ओ३म्

स्वाध्यायमञ्जरी का २५ वां पुष्प

अध्यात्म रोगों की चिकित्सा

श्रद्धानन्द-स्मारक-निधि के सभासदों की सेवा में
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय की ओर से
संवत् २०१६ के लिए सप्रेम भेंट

लेखक

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति

प्रकाशक :
धर्मपाल विद्यालंकार,
स॰ मुख्याधिष्ठाता, कृते पुस्तक भण्डार,
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार ।

मूल्य : दो रुपये पचास नये पैसे ।
प्रथम मुद्रण ११०० प्रतियां ।
सन् १९५९ ईस्वी ।

मुद्रक :
रामेश बेदी,
गुरुकुल मुद्रणालय,
गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार ।

श्रद्धानन्द स्मारक निधि

के

सदस्यों की सेवा में

प्रिय महोदय !

गुरुकुल की ओर से संवत् २०१६ की अध्यात्म रोगों की चिकित्सा नाम की यह भेंट आप के सामने प्रस्तुत है, आप इसे स्वीकार कीजिये।

आशा है आप गुरुकुल की इस भेंट को स्वीकार करेंगे और इस के स्वाध्याय द्वारा लाभ उठा कर लेखक के यत्न को सार्थक करेंगे।

आप का
मुख्याधिष्ठाता,
गुरुकुल कांगड़ी।

प्रास्ताविक निवेदन

मेरे जीवन का बड़ा भाग बच्चों के शिक्षण में व्यतीत हुआ है। विचारकों का मत है कि शिक्षा का सब से मुख्य कार्य चरित्र निर्माण है। पुस्तक विद्या किसी भी आयु में प्राप्त की जा सकती है, परन्तु छोटी आयु में बना हुआ चरित्र—वह अच्छा हो या बुरा—बड़ी आयु में आसानी से नहीं बदला जा सकता। इस कारण माता-पिता और शिक्षक का पहला कर्तव्य यह है कि वह बच्चों के चरित्र-निर्माण की ओर ध्यान दें।

चरित्र सम्बन्धी समस्यायें केवल बालकों में ही उत्पन्न नहीं होतीं। युवकों और प्रौढ़ों में उन का रूप प्रायः बहुत उग्र और कभी-कभी दुःसाध्य प्रतीत होने लगता है। उस समय आचार-हीनत जीर्ण रोग के रूप में परिणत हो जाती है।

मैं शारीरिक रोगों का पुराना रोगी हूं। जब कभी मुझे कोई शारीरिक रोग होता है, तब अपने पुस्तकालय में विद्यमान पारिवारिक चिकित्सा की सुगम पुस्तकें उठाकर उस रोग के सम्बन्ध में यथासम्भव पूरी जानकारी प्राप्त करने का यत्न करता हूं।

उस के विपरीत जब मेरे सामने किसी चरित्र सम्बन्धी रोग की समस्या उपस्थित होती है तब मुझे उस का समाधान अनेक स्मृतियों और नीतिशास्त्रों में ढूंढना पड़ता है। उस समय मेरे मन में यह विचार उत्पन्न होता है कि क्या ही अच्छा हो, यदि भारतीय तथा बाहर के शास्त्रों की सहायता से एक

ऐसा संग्रह ग्रन्थ बनाया जाय, जो आध्यात्मिक रोगों के रोगियों और उन के परामर्शदाताओं के लिये सुलभ मार्गदर्शक बन सके।

इस भावना से मैंने एक ग्रन्थ की रूप रेखा बनाई। यदि आध्यात्मिक रोगों के सम्बन्ध में पूरा चिकित्साशास्त्र बनाया जाय, तो निसन्देह वह बहुत विशाल होगा। मैंने प्रयत्न करके, अपनी समझ के अनुसार आध्यात्मिक रोगों के चिकित्साशास्त्र की जो रूप रेखा बनाई है, वह इस निबन्ध के रूप मे प्रस्तुत है। निबन्ध के विचारों में कोई विशेष मौलिकता नहीं है। जो कुछ लिखा है, देश-विदेश के प्राचीन मुनियों और विचारकों के मन्तव्यों के आधार पर लिखा है। मैंने केवल इतना किया है कि उन विचारों को अपने अनुभवों से अनुप्राणित कर के चिकित्साशास्त्र के क्रम में बांधने का यत्न किया है। मेरा विचार है कि इस रूप-रेखा के रूप में भी यह निबन्ध माता-पिता, गुरु और आचार्यों के लिये सहायक सिद्ध होगा। यदि अवसर मिला, तो मेरा विचार इस रूप रेखा के आधार पर विस्तृत ग्रन्थ लिखने का है। इस संकल्प की पूर्ति ईश्वराधीन है।

निबन्ध के प्रथम अध्याय में थोड़ा सा शास्त्रीय विवेचन किया गया है। वह अगले अध्यायों में दिये हुए व्यावहारिक विचारों की पृष्ठ भूमि है। उस में भारतीय दर्शन शास्त्रों के आध्यात्मिक और वर्तमान मनोविज्ञान के भौतिक विश्लेषण का जो समन्वय किया है, वह भी निबन्ध के व्यावहारिक भाग की पृष्ठभूमि का अंग है।

मैंने यथाशक्ति यत्न किया है, कि निबन्ध की शास्त्रीय तथा व्यावहारिक दोनों ही भागों की भाषा सर्वसाधारण के समझने योग्य हो। नीति ने कहा है—

वक्तुरेव हि तज्जाड्यं यत्र श्रोता न बुध्यते।

यदि किसी वाक्य को श्रोता न समझ सकें तो उस के लिये वक्ता को ही दोषी मानना चाहिये। भाषा वही समुचित है, जो श्रोताओं तथा पाठकों के कानों के रास्ते सीधी हृदय तक पहुंच जाय, मैंने वैसी ही भाषा लिखने का यत्न किया है। मुझे कितनी सफलता मिली है, इसके निर्णायक पाठक ही होंगे।

निवेदक

इन्द्र

विषय-सूची

प्रथम खण्ड

अध्यात्मिक चिकित्सा शास्त्र की पृष्ठभूमि

—

प्रथम खंड

आध्यात्मिक चिकित्सा शास्त्र की पृष्ठभूमि

प्रथम अध्याय

"अहम्" की व्याख्या

प्रथम प्रकरण

मनुष्य शरीर आदि साधनों से सम्पन्न जीवात्मा का नाम है

प्रत्येक मनुष्य समय-समय पर इस प्रकार के वाक्यों का प्रयोग करता है—

मैं चलता हूं। मैं खाता हूं। मैं देखता हूं। मैं सुख या दु:ख का अनुभव करता हूं।

सामान्य रूप से प्रतीत होता है कि ये सब क्रियाएं एक की हैं और एक सी हैं परन्तु वस्तुत: सबके रूप भिन्न भिन्न हैं।

चलता है शरीर। शरीर को रस्सियों से बांध कर डाल दो, चलना बन्द हो जाएगा।

देखने वाली हैं आंखें। आंखें बन्द कर लीजिए दीखना रुक जाएगा।

याद करने वाला मन है। गहरी नींद में स्मृति का अध्याय स्थगित हो जाता है और सुख दु:ख का अनुभव करने वाला है शरीर, इन्द्रिय, आंख और मन के अतिरिक्त कोई। उन सब को रोक दो, फिर भी सुख दु:ख की अनुभूति बनी रहेगी। उस अनुभव करने वाले के आत्मा, जीव, शरीरी,

देही, भोक्ता आदि अनेक नाम हैं। वह भोक्ता ही अपने "अहम्" "मैं" जैसे साधिकार शब्दों का प्रयोग करता है। जीवात्मा सब अनुभूतियों का केन्द्र है। वह साधक है, शरीरादि उसके साधन हैं।

कठोपनिषद् मे भोक्ता (जीवात्मा) के सम्बन्ध मे कहा गया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु।
बुद्धि तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥
कठ. १. ३. ३. ४।

इन कारिकाओं मे रथ के अलंकार द्वारा भोक्ता और उसके साधनो का बहुत सुन्दर वर्णन किया गया है। शरीर रथ है। इन्द्रियां उसमें जुते हुए घोड़े हैं, वे विषयों की ओर भागते हैं। बुद्धि सारथि है, जो मन रूपी रस्सियों से घोड़ों को वश मे रख सकता है। इस क्रियाशील रथ का मालिक आत्मा, शरीरी आदि नामों से पुकारा जाने वाला भोक्ता है। उसे हम इस ग्रंथ में उसके प्रसिद्ध और सार्थक "जीवात्मा" इस नाम से निर्दिष्ट करेंगे। शरीर और इन्द्रियें तभी तक काम के लायक रहती है जब तक वे जीवात्मा के साथ रहती हैं। जीवात्मा के अलग होते ही उनकी वही स्थिति हो जाती

है जो मिट्टी के ढेले की। साथ ही यह भी स्पष्ट है कि जीवात्मा की सत्ता इस जगत् में तभी सार्थक होती हैं, जब वह शरीर, मन, इन्द्रिय आदि साधनों से सम्पन्न हो।

—

द्वितीय प्रकरण

जीवात्मा सुख-दुःख का भोक्ता है

जब आंख की पीड़ा का कोई रोगी डाक्टर के पास जाता है, तब कहता है, "मेरी आंख दुख रही है। मैं बहुत बेचैन हूं। इस मे कोई दवा डाल दीजिए।" विकार आंख में है, परन्तु बेचैन वह है जो अपने को "मैं" कहता है। वही भोक्ता जीवात्मा है।

आदमी चारपाई पर लेट कर और आंखे बन्द कर के पुरानी स्मृतियों को ताज़ा कर रहा है। शरीर और इन्द्रियें निश्चेष्ट हैं, तो भी वह मधुर स्मृतियों पर सुखी हो कर मुस्कराता है, और कड़वी स्मृतियों पर दुःखी हो कर माथे पर सिकुड़न डालता है। कारण यह है कि शरीर तथा इन्द्रियें केवल अनुभव के साधन हैं, वस्तुतः सुख-दुःख का अनुभव करने वाला जीवात्मा है।

न्याय दर्शन में आत्मा का यह लक्षण किया है, "इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति।" १. १०.।

जो चाहना करता है, द्वेष करता है, प्रयत्न करता है, सुख और दुःख का अनुभव करता है और जानता है, वह आत्मा है। आत्मा इच्छा आदि लक्षणों से पहचाना जाता है। जब शरीर से आत्मा अलग हो जाता है, तब शरीर केवल पंचभूतों का ढेर रह जाता है।

जिसे हमारे शास्त्रों मे "आत्मा" नाम से निर्दिष्ट किया है, उसे नवीन मनोविज्ञान में (सेल्फ़) तथा (स्पिरिचुअल मी) आदि नाम दिए गए हैं। वही है, जो "अहम्," "मैं," (ईगो) की अनुभूति का केन्द्र है। जितने प्रकार के व्यक्तिगत सुख दु:ख है, वे उसी के साथ सम्बद्ध हैं।

—

तृतीय प्रकरण

उपभोग—सुख और दुःख

लौकिक व्यवहार के अनुसार हम कह सकते कि मनुष्य अनुकूल अनुभूति को सुख और प्रतिकूल अनुभूति को दुःख मानता है।

कुछ विचारकों का मत है कि संसार में "दुःख" ही केवल वास्तविक चीज़ है, "सुख" केवल दुःखाभाव का नाम है। उनका मत है कि सुख कोई भावात्मक वस्तु नहीं है। जब कोई शारीरिक या मानसिक व्यथा शान्त हो जाती है,

तब हम अनुभव करने लगते हैं कि हम सुखी हैं। अन्यथा सुख स्वय कोई पदार्थ नहीं। इसी मत के आधार पर एक दर्शनकार ने कहा है कि "दु खमेव सर्व विवेकिनः" समझदार मनुष्य के लिए सब कुछ दुःख ही दुःख है।

परन्तु यह मानना कि दुःख ही भावात्मक है, और सुख केवल उसके अभाव का नाम है, अनुभव और युक्ति दोनों के विरुद्ध बात है। हम शुद्ध वायु की आवश्यकता अनुभव करके उद्यान में जाते है। वहां के वायुमण्डल से हमारी बेचैनी दूर हो गई तो यह दुःखाभाव कहलाएगा। हम अनुभव करने लगेंगे कि हम सुखी हैं, परन्तु उद्यान मे लगे सुन्दर-सुन्दर फूलो को देख कर जो प्रसन्नता होगी, वह भी तो सुख ही कहलाएगा। उसे केवल दुःखाभाव नही कह सकते। वह भावात्मक सुख होगा। न्याय दर्शन का सूत्र है—

न सुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः। ४. १. ५६।

दु.खो के अन्तराल में (बीच के समयों मे) सुख का अनुभव भी होता रहता है। वात्स्यायन मुनि ने इस सूत्र की व्याख्या में लिखा है, "निष्पद्यते खलुबाधनान्तरालेषु सुखं, प्रत्यात्मवेदनीयं शरीरिणां तदशक्य प्रत्याख्यातुमिति।"

प्रत्येक प्राणी दुखों के बीच में सुःख का अनुभव करता है। कभी-कभी तो एक प्रकार के दुःख के मध्य में ही दूसरे

प्रकार के सुख का अनुभव कर लेता है इस कारण यह कहना यथार्थ नही कि सुख कोई वस्तु नही।

सुख और दु.ख दोनों भावात्मक वस्तुए हैं। परस्पर-विरोधी होने के कारण हम कह सकते हैं कि सुख के अभाव का नाम दुःख और दुःख के अभाव का नाम सुख है, परन्तु वस्तुतः दोनों की स्वतन्त्र सत्ता है।

सुख और दु:ख दोनों का अनुभव करने वाला "आत्मा" है। वह दु.ख को दूर करना और सुख को प्राप्त करना चाहता है।

सुख और दु ख दोनों की भावात्मक सत्ता होते हुए भी यह मानना पड़ेगा कि शरीरी के जीवन मे दुःखों की अधिकता है। उसका सारा जीवन प्राय: बाधाओं से लड़ने में ही व्यतीत होता है। बाधाओं की घड़ियां बहुत अधिक प्रतीत होती हं, और सुख के अन्तराल कम। यही कारण है कि प्राय: मनुष्य जोवन भर दुःखों की निवृत्ति के उपायों की खोज में लगे रहते हे। दुःखों से मुक्त होना उनके जीवन का उद्देश्य हो जाता है। मनुष्य को अपने अन्दर और बाहर भी सुख के अनेक साधन प्राप्त हुए हैं, परन्तु वह हर प्रकार की बाधाओं (दुःखों) से ऐसा घिरा रहता है कि सुख उसके लिए मृग तृष्णिका के समान हो जाता है। मनुष्य सुख का अनुभव कर सके, इसके लिए आवश्यक है कि वह सामने आने

वाली बाधाओं से बचने के उपायों को जाने, और उन्हें प्रयोग में ला सके। मनुष्य सुख की प्राप्ति और दु.ख से मुक्ति, दोनो के लिए प्रयत्न करता है, परन्तु यह बात असन्दिग्ध है कि वह विशेष प्रयत्न दुःख से छूटने के लिए ही करता है, क्योंकि दु.ख की अनुभूति मनुष्य को असह्य होती है।

—

चतुर्थ प्रकरण

प्रेरणा का मुख्य कारण-दुःख

भारतीय शास्त्रों में दुःख तीन प्रकार के बतलाए गए हैं। वे निम्न हैं—

१. **आधिभौतिक**—सर्प, व्याघ्र, चोर, डाकू, अत्याचारी आदि प्राणियों से उत्पन्न होने वाले दुःख आधिभौतिक कहलाते हैं।

२. **आधिदैविक**—आंधी, अतिवृष्टि, आतप, दुर्भिक्ष, भूकम्प आदि से उत्पन्न होने वाले दुःखों की संज्ञा आधिदैविक है।

३. **आध्यात्मिक**—मन, इन्द्रिय, शरीर आदि के दुःखों का समावेश "आध्यात्मिक" शब्द मे होता है।

इन तीनों प्रकार के दुःखो से छूटना ही मोक्ष है। सांख्य दर्शन में उसे परम पुरुषार्थ कहा है। पहला सूत्र है—

त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः।

तीनों प्रकार के दुःखों से अत्यन्त छूट जाना मनुष्य का सब से बड़ा लक्ष्य है।

यों तो सुख दुःख दोनों ही अपने-अपने ढंग पर मनुष्य को प्रयत्न के लिए प्रेरित करते है, परन्तु दुःख या दर्द में प्रेरणा करने की बहुत अधिक शक्ति है। "पेन" की व्याख्या करते हुए प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स ने लिखा है—

The stronger the pain, the more violent the start. Doubtless in tone animals pain is almost the only stimulus; and we have presented the peculiarity in so far that to-day it is the stimulus of our most energetic, though not of our most discriminating reactions.

पीड़ा (दुःख) जितना ही अधिक होगा, आत्मरक्षा के लिए प्रयत्न उतना ही उग्र होगा। इसमें सन्देह नहीं कि निचले दर्जे के प्राणियों में दर्द ही लगभग मुख्य प्रेरक है, और हममें भी वह विशेषता यहां तक बची हुई है कि हमारी सर्वाधिक शक्तिपूर्ण—परन्तु सर्वाधिकविचारपूर्ण नहीं—प्रतिक्रियायें दर्द से ही उत्पन्न होती हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि दुःख, दर्द या पीड़ा ही हमें आत्म रक्षा के लिए कर्म कराने का मुख्य कारण है। कर्म द्वारा प्रयत्न पूर्वक दु खों से छूट कर सुख प्राप्त करना ही शरीर का प्रधान लक्ष्य है। उस लक्ष्य तक पहुचने पर आत्मा को जो अवस्था होती है, उसे भगवद्गीता में "प्रसाद" और योग दर्शन में "अनुपम सुख" कहा है।

—

द्वितीय अध्याय

शरीरी का विश्लेषण

प्रथम प्रकरण

शरीर

सुख, दु.ख के प्रसंग मे यदि हम मनुष्य की स्थिति को पूरी तरह समझना चाहें तो हमें उसके चारों अंगो पर दृष्टि डालनी होगी। वे चार अग हैं—

१. शरीर, २. इन्द्रिय, ३. मन, ४. आत्मा।

इन में पहले तीन अग सुख दुःख की उत्पत्ति के केन्द्र हैं और आत्मा उनका अनुभव का केन्द्र।

आगे चलने से पूर्व कुछ आवश्यक प्रतीत होता है कि हम

सुख-दुःख के उत्पत्ति केन्द्रोंका कुछ वर्णन करें। वह वर्णन वहीं तक परिमित होगा, जहा तक उस का प्रस्तुत विषय से सम्बन्ध है।

मनुष्य के सिर से पैरों तक का स्थूल ढांचा शरीर कहलाता है। उसे तीन मोटे प्रत्यक्ष भागों में बाट सकते हैं। वे भाग हैं—

१. गर्दन से ऊपर का भाग, जिसे लौकिक संस्कृत में "मूर्धा" और लौकिक अंग्रेजी में 'हेड' कहते हैं।

२. गर्दन से नीचे कमर तक का भाग, जो शरीर का मध्य-भाग या "वपुः" कहलाता है।

३. कमर से नीचे का अधोभाग।

इनमें से पहले भाग मे ज्ञानेन्द्रियों की प्रधानता है। दूसरे में शरीर संचालन का यन्त्रालय है, और तीसरे में कर्मेन्द्रियों की मुख्यता है।

मध्यभाग में यन्त्रालय

मनुष्य के शरीर का मध्यभाग बहुत ही अद्भुत यन्त्रालय है। उसके अन्दर बहुत बड़ा घर सा बना हुआ है जिसमें छाती, हृदय, फेफड़े, रीढ़ की हड्डियां, पाचन के अंग, गुर्दे आदि जीवन के आधारभूत अवयव यथास्थान स्थित होकर अपना-अपना कार्य करते रहते हैं। जब तक उस यन्त्रालय के सब यन्त्र अपनी सीमा में रह कर अपना-अपना काम करते

रहें, तब तक शरीर खूब नीरोग और स्वस्थ रहता है। उसके सीमा से बाहिर जाने, शिथिल होने, विकृत होने अथवा उनका परस्पर पूरा सहयोग न रहने पर मनुष्य रोगी हो जाता है।

कर्मेन्द्रिय

चलने, फिरने और मलमूत्र त्याग करने के अंग शरीर के अधोभाग मे है, परन्तु वह भी मध्यभाग से बाहर को निकला हुआ है। ये कर्मेन्द्रिये शरीर की सक्रियता के साधन हैं।

ज्ञानेन्द्रिय

शरीर के मध्यभाग और अधोभाग की प्रवृत्तियों मे यह विशेषता है कि वे स्वयं प्रेरित नहीं होती, अपितु अन्यत्र से प्रेरणा पाती हैं। जैसे हृदय को लीजिए। हृदय की सामान्य क्रिया तो जीवन-शक्ति के कारण जारी रहती है, परन्तु उसमें जो परिवर्तन आते हैं, वे आंख, कान आदि अनुभव करने वाले अंगो के प्रभाव से आते हैं। भयानक वस्तु देख कर या बात सुन कर हृदय की गति तीव्र हो जाती है। इसी प्रकार त्वचा को अत्यन्त सर्दी अथवा गर्मी का अनुभव होने से फेफड़े और आमाशय में विकार उत्पन्न हो जाते हैं। जो अंग बाह्य वस्तुओं तथा क्रियाओं के प्रभाव को ग्रहण करते हैं, उन्हें "ज्ञानेन्द्रिय" का नाम दिया जाता है।

ज्ञानेन्द्रियां और उनके विषय पांच हैं—

१ आंख का विषय-रूप, २ कान का विषय-शब्द, ३ त्वचा का विषय-स्पर्श ४ नासिका का विषय-गन्ध, ५ जिह्वा का विषय-रस।

ज्ञानेन्द्रियों द्वारा आत्मा को उन के विषयों का ज्ञान होता है।

मन

शरीर, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय—ये सब आत्मा के स्थूल साधन हैं। ज्ञानेन्द्रियें और कर्मेन्द्रियें ज्ञान और कर्म के साधन हैं। परन्तु सोच कर देखें तो प्रतीत होगा, कि स्वयं अपने आप में ये तीनों ही स्वतंत्र कार्य करने में असमर्थ हैं। यदि इन का कोई एक संचालक न हो, तो ये सब व्यर्थ हो जाएं। आखें देख रही हैं कि सामने थाली में उत्तम भोजन पड़ा है, परन्तु हाथों से आखों का कोई सम्बन्ध नहीं। जब तक दोनों के बीच कोई श्रृंखला न हो, उसका समन्वय नहीं हो सकता। यह भी अनुभव की बात है कि जब किसी एक विषय की ओर उसका ग्रहण करने वाली ज्ञानेन्द्रिय पूरी तरह आकृष्ट हो जाए, तो दूसरी ज्ञानेन्द्रियां प्राय: अपना काम करना छोड़ देती हैं। अत्यन्त आकर्षक रूप देखने के समय कान, और हृदयग्राही संगीत सुनते समय आंखों का जड़वत् हो जाना सभी के अनुभव की बात है। वह श्रृंखला, जो इन्द्रियों को परस्पर बांधती और संयमित करती है, "मन" है।

द्वितीय प्रकरण

मन और मतिष्क

यद्यपि मूल रूप मे मन, शरीर और इन्द्रियों से अलग वस्तु है, तो भी वस्तुत: व्यवहार में वह उनमे सर्वथा ओत-प्रोत है। मन का कोई काम शरीर और इन्द्रियों की सहायता के बिना नही हो सकता। यहाँ तक कि योग समाधि की अवस्था में भी मन और आत्मा को परस्पर साथ-साथ रखने के लिए शरीर की आवश्यकता है। इसी प्रकार मनुष्य की ज्ञान और क्रिया सम्बन्धी हर एक प्रवृत्ति के लिए मन के सहयोग की आवश्यकता है। आत्मा के ये तीनों साधन—शरीर, इन्द्रिय और मन—कार्य करने में परस्पराश्रित हैं।

शरीर और इन्द्रियों से मन का कितना गहरा सम्बन्ध है, यह मानसिक रोगियों की दशा से सूचित हो सकता है। शरीर और इन्द्रियों के सर्वथा सही रहने पर भी यदि मन रोगी हो जाए, या तो शरीर के काम बन्द हो जाते हैं, अथवा उलट पुलट होते हैं। वर्तमान चिकित्साशास्त्र में मानसिक रोग शास्त्र (Psychiatry) का अलग स्थान है। उसका आधार वस्तुत: यही है कि मन की गति से विचार तथा शरीर पर जो प्रभाव पड़ते हैं, उनके निवारण के उपाय बतलाए जाएं।

नये वैज्ञानिक अन्वेषकों ने, मन का विश्लेषण करके शरीर और बाह्य के भौतिक जगत् द्वारा मन पर पड़ने वाले प्रभावों

पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। इस विषय को भली प्रकार समझाने के लिए पहले यह आवश्यक है कि संक्षेप में, मन और मस्तिष्क के परस्पर सम्बन्ध को स्पष्ट कर दिया जाए।

यह सर्वप्रसिद्ध बात है कि मस्तिष्क मनुष्य के विचार का साधन है परन्तु यह बात उतनी प्रसिद्ध नहीं है कि मस्तिष्क वस्तुतः मन के व्यापार का भौतिक साधन है। इस दृष्टि से मस्तिष्क को आभ्यन्तर ज्ञानेन्द्रिय का एक अग कह सकते हैं।

मस्तिष्क का केन्द्रस्थान सिर में है परन्तु उसकी शाखायें और विस्तार मेरुदण्ड और तन्तुओं (नर्व्स) के रूप में सारे शरीर मे फैला हुआ है। तन्तु दो प्रकार के होते है। एक वे, जो शरीर या इन्द्रियों पर पड़े प्रभावों को केन्द्र तक पहुंचाते हैं। उन स्नायुओं को ज्ञानतन्तु (Affervent Nerves) कहते है। जैसे पांव में ठोकर लगी। ज्ञानस्नायुओं ने यह समाचार तुरन्त केन्द्र मे पहुंचा दिया। आपके कानों में आवाज आई, "घर में आग लग गई।" बस यह समाचार स्नायुओं ने मस्तिष्क को दे दिया। मस्तिष्क का काम शरीर की रक्षा के लिए उपाय सोचना और करना है। मस्तिष्क ने ठोकर का समाचार आते ही क्रियातन्तुओं द्वारा हाथों को आज्ञा पहुंचाई कि पांव की सहायता के लिए पहुंचो। इसी प्रकार आग लगने की खबर पाते ही क्रियातन्तुओ द्वारा शरीर के अन्य भागों को प्रेरणा दी गई कि आत्मरक्षा के लिए दूर भाग

जाओ। मस्तिष्क विचार का केन्द्र है, उसके समाचार लाने और आज्ञा पहुंचाने के साधन ज्ञानतन्तु हे, और आज्ञाओं का पालन कराना कर्मेन्द्रियों और शरीर के अन्य अंगों का काम है।

अर्वाचीन विज्ञान ने मस्तिष्क के भौतिक सगठन का बहुत बारीकी से अध्ययन किया है, जिसका परिणाम परीक्षणात्मक मनोविज्ञान है। परीक्षणात्मक विज्ञान ने मानसिक तत्त्व ज्ञान को क्रियात्मक उपयोगिता को बहुत बढ़ा दिया है। कुछ लोग वर्तमान मनोविज्ञान और हमारे प्राचीन दार्शनिक मनोविज्ञान को परस्पर विरोधी समझने लगे हैं। यह उनका भ्रम है। मन विचार करने की इन्द्रिय है तो मस्तिष्क उनका साधन है, जैसे आंख देखने की इन्द्रिय है परन्तु उसका मुख्य आधार रैटिना है। रैटिना न रहे तो आख व्यर्थ हो जाती है। इस प्रकार मन को समर्थ और सार्थक बनाने वाला मस्तिष्क है, जो अपने समाचार लाने और आज्ञा ले जाने वाले दूतों द्वारा आत्मा के शरीर रूपी राज्य का सचालन करता है।

—

तृतीय प्रकरण

हृदय और मस्तिष्क

प्रचलित भाषा में हम मस्तिष्क और हृदय इन दो शब्दों का, मनुष्य के अन्दर काम करने वाली दो समानान्तर शक्तियों

के लिए प्रयोग कर देते हैं। कभी-कभी तो आलंकारिक भाषा मे उन्हें दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों का प्रतिनिधि भी मान लेते हैं। लेखक के अभिप्राय को स्पष्ट करने के लिए यह प्रयोग उपयोगी समझा जा सकता है परन्तु जब हम किसी वस्तु का तात्विक विवेचन करने लगें तो पहले शब्दों की उलझन को दूर कर लेना अच्छा होता है। इस कारण पहले "हृदय" शब्द का अभिप्राय समझ लेना उपयुक्त होगा।

"हृदय" शब्द संस्कृत का है। संस्कृत के शब्द कोशों में उसे "मन" का पर्यायवाची माना गया है। संस्कृत साहित्य में प्राय: 'हृदय' और 'मन' दोनों शब्दों का समान अर्थों मे ही प्रयोग होता है।

परन्तु सस्कृत के आध्यात्मिक वाङ्मय में "हृदय" शब्द का प्रयोग अधिक सूक्ष्म अर्थ मे किया जाता है।

उपनिषदों में इस प्रकार के अनेक वाक्य पाए जाते हैं—

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थय: ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवति एतावदनुशासनम् ।।

भगवद्गीता में कहते हैं—

ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति ।

परमात्मा सब प्राणियों के हृद्देश में विद्यमान है। जब हृदय की गांठें खुल जाती हैं, तब मरणधर्मा मनुष्य अमर हो जाता है।

इस प्रकार के वाक्यों से भान होता है कि "हृत्" तथा "हृदय" आदि शब्दो का लाक्षणिक अर्थ "जीवात्मा" भी है। जब जीवात्मा बन्धन की गाठों को खोल लेता है, तभी वह अमर हो जाता है और सर्वव्यापक ईश्वर प्रेरक रूप में सब भूतात्माओं मे ही विद्यमान है। इस प्रकार हम प्राचीन भारतीय वाङ्मय में हृदय शब्द का प्रयोग मन और आत्मा दोनों ही के लिए पाते हैं।

—

चतुर्थ प्रकरण

हृदय (हार्ट)

आजकल मुख्य रूप से हृदय शब्द का शरीर के उस अंग के अर्थ में प्रयोग हो रहा है, जिसे अंग्रेजी में "हार्ट" कहते हैं। मूलरूप में "हृदय" शब्द एक सूक्ष्म तत्त्व का बोधक था, और अब उसका प्रयोग शरीर के एक स्थूल अंग के लिए हो रहा है। इस बात को स्पष्ट कर देना आवश्यक है ताकि जब हम आध्यात्मिक रोगों का वर्णन करें तब "हृदय" शब्द का तात्पर्य समझने में उलझन न हो। यहां "हृदय" "हार्ट" का पर्यायवाची होगा।

हृदय, मनुष्य के शरीर में, रक्तप्रवाह का साधन, केन्द्रीय अंग है, उसका आकार हाथ की बन्द मुट्ठी के समान होता है।

वह दो समान भागों में विभक्त है। एक भाग से धमनियों द्वारा सारे शरीर मे विशुद्ध रुधिर भेजा जाता है, और दूसरे भाग से शरीर में आया हुआ अशुद्ध रुधिर दूसरी धमनियों द्वारा ग्रहण किया जाता है। अशुद्ध रुधिर को ग्रहण करने वाला हृदय का भाग उस रुधिर को शुद्ध होने के लिए फेफड़ों के पास भेज देता है। फेफड़े उसे शुद्ध करके हृदय के उस भाग को वापिस कर देते हैं जो शुद्ध रुधिर का संचारक है। इस प्रकार हर क्षण शरीर का रुधिर हृदय में पहुंच कर, फेफड़ों द्वारा शुद्ध होता और फिर शरीर में संचारित होता रहता है।

इस प्रक्रिया को निरन्तर जारी रखने के लिए आवश्यक है कि हृदय निरन्तर गति करता रहे। वह बाहरी रुधिर को लेने के लिए खुलता और रुधिर को बाहिर भेजने के लिए बन्द होता है, जैसे मुट्ठी खुलती और बन्द होती है। हृदय की वही गति हाथ की नाड़ी में प्रतिबिम्बित होती है। सामान्य रूप से एक स्वस्थ मनुष्य का हृदय एक मिनट में ७५ बार गति करता है। सद्योजात बच्चे के हृदय की गति १४० तक होती है। बुढ़ापे में वह गति ६० तक रह जाती है।

हृदय की गति की एक विशेषता है। शरीर के किसी अंग पर अधिक काम आ पड़े तो वहां रुधिर की आवश्यकता बढ़ जाती है, जिसे पूरा करने के लिए हृदय को जल्दी-जल्दी काम करना पड़ता है। खाना खायें तो पेट को अधिक रुधिर

चाहिए, चलें तो पांव अधिक रुधिर मांगता है, सोचे तो मस्तिष्क में रुधिर की मांग बढ़ जाती है। फलत: शरीर के किसी भाग पर भी कोई असाधारण काम आ पड़े तो हृदय की गति तीव्र हो जाती है। शरीर मे रुधिर तेजी से बहने लगता है, और नब्ज़ भी तेज हो जाती है। उसका एक प्रभाव यह होता है कि शरीर के जिस भाग की ओर रुधिर का प्रवाह बढ़ जाता है, उसके अतिरिक्त अन्य भागों में सापेक्षक न्यूनता आ जाती है।

—

पञ्चम प्रकरण

दोनों परस्पराश्रित

अब हम इस बात को आसानी से समझ सकते हैं कि किस प्रकार मस्तिष्क और हृदय एक दूसरे को प्रभावित करते हैं।

शरीर की जीवन-शक्ति का आधार रुधिर है। शरीर के जिस अंग को विशेष कार्य करना हो, उसे रुधिर की विशेष आवश्यकता हो जाती है। सामान्य दशा में जीवन के लिए आवश्यक रुधिर हृदय द्वारा शरीर के सब अंगों को पहुचता रहता है। जब किसी अंग को रुधिर की विशेष आवश्यकता हो तब हृदय का काम बढ़ जाता है। किसी विशेष विक्षोभ की अवस्था हो तब भी हृदय का यन्त्र तेजी से चलने लगता है।

स्पष्ट है कि जब किसी एक दशा में रुधिर का प्रवाह अधिक तीव्र हो जाएगा, जहां से मांग आई है उसे छोड़ कर अन्य जगह रुधिर की मात्रा कम जाने लगेगी। वहाँ का कार्य भी ढीला पड़ जाएगा।

मान लीजिए विशेष चिन्ता के कारण मस्तिष्क पर जोर पड़ा, और उसे रुधिर की आवश्यकता हुई, स्वभावतः शरीर के अन्य अग शिथिल पड़ जाएग। कल्पना कीजिए कि पांव में गहरी चोट आने के कारण रुधिर का आवेग उधर बढ़ गया, तो स्वभावतः किसी अन्य गम्भीर विषय के चिन्तन की गुजायश नही रहेगी। यो तो विशेष दशाओं मे हृदय को मस्तिष्क के आदेशों का पालन करना ही पडता है क्यो कि शरीर के प्रत्येक भाग का आदेश उसके पास मस्तिष्क मे केन्द्रित तन्तुओ द्वारा पहुचना है, परन्तु जब हृदय ने रुधिर का प्रवाह एक ओर भेजना आरम्भ कर दिया, तो उसका प्रभाव मस्तिष्क की चिन्तन क्रिया पर भी पड़ता है। इस प्रकार जहा हृदय मस्तिष्क से आदेश ग्रहण करता है वहा उसे प्रभावित भी करता है। दोनों मे से कब कौन मुख्य है और कौन गौण, यह परिस्थितियों पर अवलम्बित है।

—

तृतीय अध्याय

आत्मा

प्रथम प्रकरण

कर्ता तथा भोक्ता

आत्मा या जीवात्मा के अनेक नाम हैं। हमारे दर्शनों में उसका "शरीरी", "भोक्ता" और "कर्ता" आदि यौगिक शब्दों द्वारा निर्देश किया गया है। पाश्चात्य दर्शन में उस के लिए "सोल", "इगो," "स्पिरिट" आदि शब्दों का प्रयोग होता है। प्रत्येक मनुष्य उसे "अहम्", "आई" और "मैं" आदि अनुभव सूचक शब्दों से अभिव्यक्त करता है।

यहां "अहम्" पदवाच्य जीवात्मा, शरीर और इन्द्रियों से भिन्न है। तभी तो हम कहते हैं "मेरा शरीर दुखता है", "मेरी आंखों में दर्द है"। हम शरीर और इन्द्रियों के लिए "मेरे" शब्द का प्रयोग जैसे "मेरा कपड़ा," "मेरा घर" करते हैं। स्पष्ट है कि "मैं" और "मेरा" दो भिन्न-भिन्न वस्तुएं हैं।

जीवात्मा मन से भी भिन्न है। यह प्रत्येक मनुष्य के अनुभव से सिद्ध बात है कि एक क्षण में वह एक ही ज्ञानेन्द्रिय से काम ले सकता है। जब उस की आंखें किसी आकर्षक रूप को देखने में लगी हुई होंगी उस क्षण में वह सुन नही सकेगा, और यदि कोई बहुत जोर का शब्द उस की श्रवणेन्द्रिय को अपनी ओर खींचने पर बाधित कर दे तो रूप पर

से उसका ध्यान उचट जाएगा। ऐसा होते हुए भी शरीर के सब अंगों मे चेतना यथावत् विद्यमान रहेगी और चेतना आत्मा का विशेष गुण और चिह्न है। एक ही समय मे एक ही इन्द्रिय काम करती है, इसका कारण यह है कि इन्द्रिय मन के सहयोग के बिना काम नहीं कर सकती और मन अणु होने के कारण एक ही समय में एक ही इन्द्रिय को सहयोग दे सकता है। वह, जो मन का स्वामी है, जो शरीर की चेतना का कारण है, जो इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होने वाले ज्ञान का प्रदाता है, वह आत्मा है।

सांख्य दर्शन मे कहा है "शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान्" अर्थात् मनुष्य शरीरादि से पृथक् है।

न्याय दर्शन का सूत्र है—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगानी।

जो चाहता है, द्वेष करता है, प्रयत्न करता है, सुख और दुःख का अनुभव करता है और जानता है वह आत्मा है।

वर्तमान मनोविज्ञान के कई आचार्य "सैल्फ" को दो भागों में बांटते हैं। एक "आई" और दूसरा "मी"। इनमें से आत्मा वह है जिसे मनोविज्ञान "आई" मानता है। मनोविज्ञान के अनुसार "मी" शब्द शरीरादि को द्योतित करता है। वस्तुतः यह शाब्दिक विश्लेषण भाषा की उलझन का परिणाम है। वस्तुतः हम शरीर को "मेरा शरीर"

ही मानते हैं और कहते हैं; "मैं शरीर" ऐसा न अनुभव करते हैं, न कहते हैं।

इस विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य कहलाने वाले इस सम्पूर्ण यन्त्र का संचालक जीवात्मा है। इस दृश्यमान शरीर का स्वामी होने से वह "शरीर" कहलाता है।

मनुष्य का जीवन क्या है ? शरीर और आत्मा का संयोग ही तो जीवन है। मन के सहयोग से इन्द्रियें जो ज्ञान इकट्ठा करती हैं, उनका अधिष्ठान आत्मा है, इस कारण वह "ज्ञाता" है। कर्मेन्द्रियें जो कर्म करती हैं, उन का प्रेरक भी आत्मा है, क्यों कि मस्तिष्क की आज्ञाओं के लिए उत्तर दाता वही है। इस कारण उसे "कर्ता" कहते हैं। "जो करेगा वह भोगेगा" इस अटल नियम के अनुसार आत्मा ही अपने कर्मों के फलो का उपभोग करता है, अतः वही "भोक्ता" है।

आत्मा को जो कर्म फल भोगने पड़ते हैं, वे दो प्रकार के होते हैं। एक अनुकूल या प्रीतिकर। दूसरे प्रतिकूल या अप्रीतिकर। अनुकूल श्रेणी के फलों का शास्त्रीय नाम "सुख" है और प्रतिकूल फलों का नाम "दुःख"। अपने किये हुए कर्मों के अनुसार प्राप्त होने वाले सुखों और दुःखों का भोक्ता होने से जीवात्मा कर्तव्याकर्तव्य शास्त्र का मुख्य विषय है। कर्ता वह है और सुख और दुःख भी उसी को प्राप्त होते हैं, फलतः वही संसार की सब अच्छी बुरी प्रवृत्तियों का केन्द्र है।

—

द्वितीय प्रकरण

क्या मनुष्य कर्म करने में स्वतन्त्र है ?

तत्त्वज्ञान पर गम्भीरता से विचार करने वाले दार्शनिकों के सम्मुख यह प्रश्न सदा बना रहता है कि क्या आत्मा स्वतन्त्र कर्ता है ? क्या वह अपनी स्वच्छन्द इच्छा से कार्य करता है, या उसके कार्यों पर अन्य शक्तियां भी प्रभाव डालती है ?

प्रभाव डालने वाली शक्तियां अनेक हो सकती हैं। कुछ लोगों का विचार है कि मनुष्य जो कुछ बुरा या भला करता है, ईश्वर की प्रेरणा से करता है। इस मत का कुछ उपलक्षण इस श्लोक से मिलता है।

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः,
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन,
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

मैं धर्म को जानता हूं, परन्तु उसके अनुसार चल नहीं सकता। मैं अधर्म को भी जानता हूं परन्तु उससे बच नहीं सकता। मेरे हृदय में जो देवता बैठा हुआ है, वह जैसी प्रेरणा करता है, वैसा ही करता हूं। इस प्रकार के वाक्य अपने ऊपर से बुराई का उत्तरदायित्व हटाने के लिए कहे जाते हैं। ईश्वर ही प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक कार्य करने के लिए प्रेरित करता

है, यह कितना निर्मूल है, यह बात एक दृष्टान्त से ही स्पष्ट हो सकती है। एक वृक्ष पर बैठे हुए एक सुन्दर पक्षी को देख कर चार दर्शकों में चार प्रकार की प्रवृत्तियां उत्पन्न होती हैं।

साधारण दर्शक सुन्दर पक्षी को देखकर प्रसन्नता से 'वाह' प्रगट कर सन्तोष कर लेता है। चित्रकार उसका चित्र खींचने के लिए तूलिका निकालने लगता है और शिकारी का ध्यान अपने तीर या बन्दूक पर चला जाता है। एक ही वस्तु ने चार व्यक्तियों में चार प्रकार की प्रेरणा उत्पन्न की। यह किसी एक ही 'देव' का काम नहीं, यह प्रत्येक के अन्दर विद्यमान पृथक् 'देव' की करामात है कि वह प्रत्येक वस्तु का दर्शन अपने सस्कारो, विचारों और भावनाओं के दर्पण में करता है। उसी के अनुसार उसमें प्रतिक्रिया भी उत्पन्न होती है।

कुछ विचारकों का मत है कि मनुष्य जो कुछ करता है, उसमें उसकी परिस्थितियों का प्रभाव मुख्य रहता है। परिस्थितियों में कई चीजों का समावेश हो जाता है। घर और पाठशाला के संस्कार, गांव या नगर का वातावरण, समाज की दशा, राजनीति, संगठन आदि अनेक वस्तुएं ऐसी हैं जो मनुष्य को प्रभावित करती हैं। रौबर्ट ओवन तथा अन्य कई सोशलिस्ट लेखक तो यहां तक मानते हैं कि मनुष्य सोचने में या करने में परिस्थितियों के इतना अधिक अधीन है कि उसे स्वतंत्र कहा ही नहीं जा सकता।

परन्तु यदि वस्तुस्थिति पर दृष्टि डाले तो हमें निश्चय हो जायगा कि केवल परिस्थितियां मनुष्यों की प्रकृतियों और प्रवृत्तियों में विद्यमान भिन्नता का पर्याप्त कारण नहीं हो सकतीं। एक ही घर में पले और एक ही पाठशाला में पढ़े दो भाइयों के क्रियात्मक जीवन एक दूसरे से इतने भिन्न क्यों हो जाते है ? इसी प्रकार एक ही समाज में जीने वाले दो व्यक्तियों में से एक साधु हो जाता है, और दूसरा चोर। इस का क्या कारण है ? मनुष्य के जीवन-निर्माण पर परिस्थितियों का प्रभाव तो अवश्य पड़ता है, परन्तु वह उसके चरित्र का अन्तिम निर्णायक नहीं है। इति कर्तव्यता का अन्तिम निर्णायक स्वयं मनुष्य है। यही कर्ता रूप में उसकी स्वतंत्रता का आधार है।

जब मनुष्य कर्म करने या न करने मे बहुत कुछ स्वतंत्र है तो उसे कर्मों का फल भोगना उचित ही है। आग में हाथ डालने से जलेगा ही। पानी में कूदने से गीला होना ही पड़ेगा। यही कर्म-फल का सिद्धान्त है। उस सिद्धान्त का मूल आधार है जीवात्मा की कर्म करने या न करने या उल्टा करने में स्वतन्त्रता। यह ठीक है कि मनुष्य को बुराइयों से बचाने के लिए उसकी परिस्थितियों को सुधारना अत्यन्त आवश्यक है, परन्तु कैसी भी परिस्थितियां हों, मनुष्य उनसे ऊंचा रह कर सन्मार्ग पर जा सके, इसके लिए जीवात्मा की इच्छा-

शक्ति और विवेक शक्ति को प्रबल बनाना उससे भी अधिक आवश्यक है।

—

तृतीय प्रकरण

सत्कर्म की कसौटी

मनुष्य के मानसिक, वाचिक और शारीरिक कार्यों का शास्त्रीय नाम कर्म है। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक कर्म का कुछ न कुछ फल अवश्य होता है। आग में हाथ देने से अवश्य जलेगा, ऊंचाई से गिरे तो चोट अवश्य लगेगी, यदि दीवार पर गेंद मारे तो वह लौट कर अवश्य आएगी। ये सामान्य लौकिक दृष्टान्त हैं, जिन से प्रत्येक मनुष्य अनुमान लगाता है कि जो कर्म किये जाते हैं, उनका फल अवश्य होता है। जब जड़ पदार्थों की अचेतन क्रियाओं का भी फल होता है तो चेतन मनुष्य के इच्छा पूर्वक किये गये कर्मों का फल क्यों न होगा? "नाभुक्तं क्षीयते कर्म" जब तक उसका फल भोग न लिया जाय तब तक कर्म नष्ट नहीं होता, इस कारिकांश का यही अभिप्राय है।

कर्म दो प्रकार के होते हैं, अच्छे और बुरे। जिन कर्मों का परिणाम सुख हो, वे अच्छे; और जिनका परिणाम दुःख हो, वे बुरे कर्म कहलाते हैं। योग दर्शन में कर्मों के सम्बन्ध में कहा गया है—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्य हेतुत्वात् । (योग २।१४)

"जो कर्म सुख जनक हैं, वे पुण्य (अच्छे) और जो परिताप (दुःख) जनक हैं, वे अपुण्य (बुरे) कहलाते हैं"।

यहां यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि कर्म के प्रकरण में सुख-दुःख शब्दों से किस के सुख-दुःख का ग्रहण होना चाहिए ? क्या केवल कर्म करने वाले के अपने सुख-दुःख ही पुण्य और अपुण्य के पैमाने हैं या अन्य प्राणियों के सुख-दुःख की भी कोई गिनती है ! वस्तुतः यह प्रश्न कर्तव्याकर्तव्य के बहुत महत्वपूर्ण प्रश्न का ही एक अंग है। वह प्रश्न यह है कि मनुष्य के लिए अच्छाई की परिभाषा क्या है ? क्या वह अच्छा है जो अपने को सुख देने वाला है; या वह अच्छा है जो कर्त्तव्य है; अथवा वह अच्छा है जो उसे पूर्णता की ओर ले जाए ? ये सब धर्म-शास्त्र के गहरे और लम्बे विवाद-ग्रस्त प्रश्न हैं। दार्शनिकों में इस पर बहुत गहरे मतभेद हैं। उस गहराई में न जाकर हम यहां अच्छाई की एक सरल व्याख्या को स्वीकार करेंगे। वह व्याख्या व्यास मुनि ने महाभारत में की है। कहा है—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषान्न समाचरेत् ॥

धर्म का सार क्या है, यह मैं बतलाता हूं। इसे ध्यान से सुनो और उस पर विचार करो। धर्म का सार यह है कि जो हमें अपनी अन्तरात्मा के प्रतिकूल प्रतीत होता है, उसे दूसरे

के लिए भी प्रतिकूल ही मानो और यही मान कर आचरण करो। हम दूसरों से जिस व्यवहार की इच्छा रखते हैं, दूसरे भी हम से वैसे ही व्यवहार की इच्छा रखेंगे। जो अच्छा है, वह सब के लिए अच्छा है, और जो बुरा है वह सब के लिए बुरा है। धर्म वह नही जो केवल अपने लिए सुखकारी हो, धर्म वह है जो सब के लिए सुखकारी हो। अच्छे और बुरे की यह ऐसी कसौटी है, जिसे प्रत्येक मनुष्य समझ सकता है।

पश्चिम के धर्माचार्यों और दार्शनिकों ने अच्छे और बुरे कर्मों का लक्षण ढूंढने के अनेक यत्न किए हैं। एक समय था जब योरोप में हिडोनिज्म (सुखवाद) का दौरदौरा था। उस सिद्धान्त का अभिप्राय यह था कि प्रत्येक मनुष्य के लिए वही "अच्छा" है जो उस के लिए "सुखदायी" है। यह मन्तव्य इतना संकुचित और दोषयुक्त था कि धीरे-धीरे उसका रूप बदलने लगा। बैन्थम और मिल आदि विचारकों ने उसे "उपयोगितावाद" का नया नाम देते हुए "सुखदायी" की व्याख्या यह की कि जो कार्य अधिक से अधिक व्यक्तियो को अधिक से अधिक सुख देने वाला है, वह "अच्छा कार्य" है।

"सुखवाद" का सब से बड़ा दोष यह था कि "सुख" शब्द की व्याख्या सर्वथा अनिश्चित है। सब मनुष्यों के लिए सुख का एक ही रूप नही है। किसी को धन के कमाने मे सुख मिलता है, किसी को जोड़ने में सुख प्राप्त होता है तो किसी

को दान करने में। यदि सुख या प्रसन्नता की अनुभूति को ही अच्छे या पुण्य कर्म का लक्षण मानें तो तीनों व्यक्तियों के लिए उनका रूप पृथक्-पृथक् हो जायगा। जो प्रत्येक इकाई में बदले उसे न्यायसगत लक्षण कैसे कह सकते हैं ?

पश्चिम के जिस विचारक ने "अच्छे कर्म" की सब से अधिक तर्कसगत व्याख्या की, वह जर्मनी का इम्यैनुएल काण्ट था। काण्ट की युक्ति शृंखला बहुत गहन है उस में न उलझ कर यदि हम उस का साराश जानना चाहें तो यह है कि पाप और पुण्य की कसौटी मनुष्य को कहीं बाहर ढूंढने की आवश्यकता नहीं, वह उस के अन्दर विद्यमान है। सत्य वह है जो देश और काल के भेद से भिन्न न हो। कर्त्तव्य-सम्बन्धी सिद्धान्त भी वही सत्य होगा, जो सारे विश्व के लिये समान है। कुछ दृष्टान्त लीजिये; प्रश्न यह है कि क्या झूठ बोलना उचित है ? इस प्रश्न का उत्तर दो प्रश्नों के उत्तरों में आ जाता है। यदि सभी लोग सदा झूठ बोलने लगें तो दुनिया का व्यवहार चल सकता है ? क्या मैं पसन्द करूंगा कि सब लोग झूठ बोलें ? उत्तर स्पष्ट है कि नहीं। सिद्ध हुआ कि सत्य बोलना अच्छा और झूठ बोलना बुरा है। काण्ट का सिद्धान्त प्रकारान्तर से मनु के बताए हुए धर्म के चतुर्थ "साक्षात् लक्षण" "स्वस्य च प्रियमात्मनः" की युक्तिसंगत व्याख्या है।

भगवद्गीता के इन श्लोकों का भी यही अभिप्राय है—

विद्या विनय सम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिता: समदर्शिन:॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाप्रिय:[1]॥

—

चतुर्थ प्रकरण

कर्म—विकर्म—अकर्म

मनुष्य को सुख और दुःख अपने कर्मों से प्राप्त होते हैं। जिन से सुख मिलता है वे अच्छे, और जिन से दुःख मिलता है वे बुरे कर्म कहलाते हैं। अच्छे और बुरे कर्मों का शास्त्रीय नाम पुण्य और पाप है।

यदि कर्म की व्याख्या को यहीं पर छोड़ दें तो समझो, मनुष्य के जीवन के साथ कर्म के सम्बन्ध को बिलकुल अन्धकार

---

[1] पण्डित लोग विद्या और विनय से युक्त ब्राह्मण को, गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल को एक ही दृष्टि से देखते हैं।

हे अर्जुन! जो मनुष्य सब को अपने समान देखता है, वही संन्यासी और योगी है। जो यज्ञादि न करे या कर्म से रहित हो वह संन्यासी या योगी नहीं कहलाता।

में छोड़ दिया। यदि प्रत्येक व्यक्ति अपने सुख के लिए ही कर्म करे, तो उस के स्वार्थों की टक्कर दूसरे व्यक्तियों से लगनी स्वाभाविक है, जिस से वैर, विरोध और अशान्ति की मात्रा बढ़ती ही जायेगी। यदि व्यक्तियों से आगे बढ़कर वर्गों या जातियों के स्वार्थ टकराने लगें तो सारा संसार युद्धक्षेत्र बन जायेगा—जैसे आजकल बन रहा है। तब यह सोचना आवश्यक है कि यद्यपि अच्छे कर्मों का फल सुख होना चाहिये, परन्तु वह सुख केवल अपने तक परिमित नही रहना चाहिये।

दूसरा प्रश्न यह है कि क्या मनुष्य को यह लक्ष्य सामने रख कर ही अच्छा कर्म करना चाहिए कि मुझे सुख मिले। ऐसे कर्म को जो अपने सुख की प्राप्ति के लिये किया जाय, सकाम कर्म कहते हैं। सकाम कर्म करने से अनेक संकट उत्पन्न होते हैं। पहला संकट यह है कि प्रत्येक मनुष्य की कामनाएं भिन्न होने से सकाम कर्म करने वालों का परस्पर संघर्ष अवश्यम्भावी है। दूसरा सकट यह है कि किसी भी कर्म का सोलहों आना हमारा अभीष्ट फल हो ऐसा नहीं होता, तब कार्य समाप्त होने पर जितने अंशों में असफलता हुई है उस का दुःख बना रहेगा। और वह दुःख आंशिक सफलता की अपेक्षा अधिक तीव्रता से अनुभव होता है। इस का मूल कारण यह है कि कर्म करना मनुष्य के हाथ में नहीं है। वह ऐसी परिस्थितियों और शक्तियों पर आश्रित है, जिन पर मनुष्य

का वश नहीं है। इस कारण फल की अभिलाषा लेकर अच्छे कर्म करना सकटों से भरा हुआ है। अच्छे कर्म को इसलिये करना चाहिये कि वह अच्छा है—और अच्छा कर्म वह है जिसे हम 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' इस की कसौटी पर कस कर अच्छा मान चुके हैं। जो नियम सार्वजनिक हो सके, वही सच्चा नियम है। जिस व्यवहार को मैं अपने लिये पसन्द करता हूं, दूसरों के लिये भी उस को पसन्द करूं, यही अच्छे व्यवहार की कसौटी है। इस कसौटी पर कस कर प्रत्येक समारम्भ को – कर्म को – करना शास्त्रीय भाषा में निष्काम कर्म कहलाता है।

कर्म का मर्म जानने के लिए भगवद्गीता के इन श्लोकों के अभिप्राय को भली प्रकार समझना चाहिये—

किं कर्म किमकर्मेति, कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि, यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसे ऽशुभात्॥

कर्म क्या है और अकर्म क्या है, इस प्रश्न का उत्तर देने में विद्वान् लोगों में भ्रम हो जाता है। सो मैं कर्म का अभिप्रायः समझाता हूं जिसे जान कर तू कुकर्मों से बच जायेगा।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं, बोद्धव्य च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं, गहना कर्मणो गतिः॥

कर्म की गति बड़ी गहन है। मनुष्य को कर्म, विकर्म, और

अकर्म तीनों का रूप पृथक्-पृथक् समझ लेना चाहिए।

भगवद्गीता में इन तीनों का पृथक्-पृथक् रूप बहुत स्पष्ट और सुन्दर रूप से समझाया गया है। संसार के धार्मिक और दार्शनिक साहित्य में कर्तव्याकर्तव्य की ऐसी विशद और सूक्ष्म व्याख्या शायद ही कहीं अन्यत्र की गई हो।

कर्म

सब से पहले कर्म की व्याख्या आवश्यक है। यजुर्वेद के अन्तिम अध्याय में विधान किया है —

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।

कर्म करता हुआ ही सौ साल तक जीने का यत्न करे। इस श्रौत वाक्य का विस्तार करते हुए भगवद्गीता में कहा गया है —

नियतं कुरु कर्म त्वं, कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीर यात्रापि च ते, न प्रसिध्येदकर्मणः॥

नियत कर्म को सदा करते रहो। कर्म करना कर्म न करने से उत्कृष्ट है। यदि कर्म न करें तो शरीर यात्रा भी नहीं चल सकती।

विकर्म

कर्म तो करें, परन्तु विकर्म न करें। विकर्मों को भगवद्-गीता में आसुरी सम्पद् कहा है —

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च, क्रोधः पारुष्यमेव च ।
अज्ञानं चाभिजातस्य, पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥
—गीता १६ ४ ।

दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, कठोरता और अज्ञान ये सब आसुरी सम्पद् के अन्तर्गत हैं । इस की और स्पष्ट व्याख्या करते हुए कहा है —

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारन्नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

आत्मा को दुःख सागर में फेंक कर नष्ट करने वाले ये तीन शत्रु हैं — काम, क्रोध और लोभ, इन तीनों का परित्याग करे ।

विकर्मों का त्याग करो और कर्म करो, यह धर्म का सार है । इस सामान्य सिद्धान्त में तो सभी विचारकों और धर्माचार्यों का मतैक्य होगा और उस में कुछ नवीनता भी प्रतीत न होगी, भारतीय ज्ञान की उत्कृष्टता और अत्यन्त प्राचीन होते हुए भी नवीनता 'अकर्म' की व्याख्या में है । अकर्म की जितनी मार्मिक व्याख्या भारतीय शास्त्रों में और विशेष रूप से भगवद्गीता में की गई है, अन्यत्र कही शायद ही मिले ।

अकर्म शब्द का मोटा अर्थ है कर्म का अभाव । मनुष्य कोई कर्म करे ही नहीं । कुछ लोग कर्म त्याग का यही अभिप्राय समझते हैं । भगवद्गीता ने बतलाया है कि सर्वथा अकर्म

होना तो असम्भव है ही, दोषयोग्य भी है। मनुष्य जब तक जीता है तब तक देखेगा सुनेगा और विचार भी करेगा। यह सब कुछ करता हुआ और ज्ञानेन्द्रियों से पूरा उपयोग लेता हुआ यदि कर्मेन्द्रियों को रोक कर बैठा या लेटा रहेगा तो वह 'मिथ्याचार' और 'दम्भी' हो जायगा। कहा है —

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य, य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा, मिथ्याचारः स उच्यते॥

जो मनुष्य कर्मेन्द्रियो को तो रोक लेता है, परन्तु ज्ञानेन्द्रियों के विषय का चिन्तन मन से करता रहता है, वह मिथ्याचार अर्थात् दम्भी कहलाता है। कर्मेन्द्रियों का संयम कर के मन द्वारा इन्द्रियों के विषय का चिन्तन करना 'अकर्म' कहलाता है। उस के सम्बन्ध में गीता ने बतलाया है —

कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।

अकर्म की अपेक्षा कर्म श्रेष्ठ है। सर्वथा कर्म न करना असम्भव तो है ही, यदि कर्मेन्द्रियों से हटा कर केवल मन तक परिमित करने का यत्न किया जाय तो वह मिथ्याचार मात्र रह जाता है, इस कारण अकर्म निन्दित है और कर्म उपादेय है।

परन्तु वह कर्म श्रेष्ठ तभी कहलाता है जब वह निष्काम हो। यह मेरा कर्तव्य है, ऐसा सोच कर कर्म करना कर्म-योग कहलाता है। कर्म-योग को भगवद्गीता में कर्म-सन्यास अर्थात्

कर्म के त्याग से भी ऊंचा बताया है --

सन्यासः कर्मयोगश्च, निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥

यों तो सन्यास और कर्मयोग दोनों कल्याणकारी हैं, परन्तु उन में से भी कर्म-सन्यास की अपेक्षा कर्म-योग अधिक उपादेय है ।

चतुर्थ अध्याय

दुःख के कारण

प्रथम प्रकरण

दुःख का कारण—रोग

सामान्य रूप से रोग शब्द का प्रयोग ज्वर, खांसी, फोड़ा, फुंसी आदि व्याधियों के लिए होता है, परन्तु वस्तुतः उस का मौलिक अर्थ अधिक व्यापक है । मनुष्य को जितने प्रकार के दुःख प्राप्त होते हैं, उन के कारण को रोग कहा जाता है । दुःख तीन प्रकार का है — 'अथ त्रिविध दुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः । — साङ्ख्यदर्शन' । आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक इन तीनों प्रकार के दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति मनुष्य का परम लक्ष्य है । इन तीनों प्रकार के दुःखों के

कारण — रोगो — को भी हम निम्नलिखित तीन भागों में बांट सकते हैं —

१ आधिदैविक रोग ।
२ आधिभौतिक रोग ।
३ आध्यात्मिक रोग ।

आधिदैविक रोगों को उत्पन्न करने वाली दैवी शक्तियां हैं, जो पूरी तरह मनुष्य के वश में नहीं हैं, परन्तु मनुष्य उन के आक्रमण से बचने के उपाय कर सकता है ।

आधिभौतिक रोग शत्रुओ, दुष्ट जनों और सर्पव्याघ्रादि प्राणियों से प्राप्त होते हैं । उन से बचने के लिए मनुष्य को शान्ति सम्पादित करनी चाहिए ।

आध्यात्मिक रोग आत्मा के दोषों से उत्पन्न होते हैं, उन के निवारण का उपाय यही है कि आत्मा के दोषों को साधना द्वारा नष्ट किया जाय ।

ये रोग अधिष्ठान के भेद से फिर तीन भागों में बाटे जा सकते हैं । पहले शारीरिक, दूसरे मानसिक और तीसरे आध्यात्मिक ।

शारीरिक रोगों की चिकित्सा आयुर्वेद का विषय है । प्रत्येक देश और जाति मे अपना-अपना दैहिक चिकित्सा शास्त्र प्रचलित है । वर्तमान काल में पाश्चात्य मेडिसिन (Medicine) और सर्जरी (Surgery) को अन्तर्जातीय मान्यता भी प्राप्त हो गई है । ये सब शारीरिक रोगों की निवृत्ति के उपाय हैं ।

मानसिक रोगों के इलाज के लिए अलग चिकित्सा-पद्धति का आविर्भाव और मानसिक रोग चिकित्सालयों की स्थापना हो गई है।

शेष रह गए आध्यात्मिक रोग, जो प्राय: उपर्युक्त दोनों प्रकार के रोगों के मूलकारण तो हैं ही, उन की अनुभूति की तीव्रता और शिथिलता के भी कारण होते हैं।

आध्यात्मिक रोग कौन-कौन से हैं, उन का शारीरिक व मानसिक रोगो तथा उन की अनुभूति पर क्या असर पड़ता है और उन के निवारण के क्या उपाय हे ? इन प्रश्नों का उत्तर देना इस ग्रन्थ का विषय है। इस पहले खण्ड में आध्यात्मिक चिकित्सा शास्त्र की पृष्ठभूमि का विवरण दिया गया है, इस के आगे उन के स्वरूप का विवेचन किया जायगा।

—

द्वितीय प्रकरण

आध्यात्मिक रोग क्या है ?

शारीरिक और आध्यात्मिक रोग में क्या भेद है ? इस प्रश्न का उत्तर कुछ दृष्टान्तों के विवेचन से मिल जायगा।

देवदत्त के पेट में दर्द हुआ यह शारीरिक रोग है। उस का कारण अपथ्य भोजन है। उस का उपाय कोई चूर्ण अथवा औषध की खुराक है।

यह शारीरिक रोग का चक्कर तो समाप्त हो गया, परन्तु हम रोग के मूल कारण तक नहीं पहुंचे। एक आवश्यक विचा-

रणीय बात यह है कि देवदत्त ने अपथ्य भोजन क्यों किया ?

दो कारण सम्भव हैं । या तो उसे पथ्य-अपथ्य का ज्ञान नहीं,यह अज्ञान कहलाता है अथवा जानने पर भी उस का अपनी जिह्वा पर वश नहीं, इसे रसलोलुपता या चटोरापन कह सकते हैं । अज्ञान और रसलोलुपता दोनों आध्यात्मिक रोग हैं, जो अनेक शारीरिक रोगों के मूल कारण हैं ।

शारीरिक रोग से आत्मिक शक्ति का एक और भी सम्बन्ध है । देवदत्त के पेट में दर्द होने लगा तो वह जोर-जोर से चिल्लाने लगा । उसने हल्ला कर के सारा घर सिर पर उठा लिया । उसने पीड़ा का तीव्र अनुभव किया । स्पष्ट है कि उस के दुःख की मात्रा पर्याप्त थी ।

परन्तु जब हरिदत्त के पेट में दर्द हुआ तो उसने घर वालों को उस की सूचना दे दी या स्वयं ही कोई चूर्ण ले लिया । यदि आवश्यकता हुई तो चिकित्सक से सहायता ले ली । उसने न आक्रन्दन किया, न घर वालों को परेशानी में डाला । इस में सन्देह नहीं कि सहन-शक्ति और धैर्य के कारण उसने पेटदर्द की पीड़ा को कम कर लिया । उसे दुःख की मात्रा देवदत्त की अपेक्षा थोड़ी भुगतनी पड़ी और घर के लोगों को कम कष्ट मिला । ये दोनों आत्मिक बल के परिणाम थे ।

मानसिक रोगों के कारणों और परिणामों पर विचार करने से भी हम इसी परिणाम पर पहुंचेंगे कि अत्यन्त चिन्ता से प्रायः मनुष्य का मन डांवाडोल हो जाता है । अपने किए हुए किसी पाप या अत्याचार की स्मृति मनुष्य को विक्षिप्त

कर देती है । मानसिक रोगों के चिकित्सक ऐसे रोगियों का शारीरिक इलाज तो करते ही हैं परन्तु उन का असली इलाज आध्यात्मिक होता है, क्योंकि उन रोगों का मूल कारण आध्यात्मिक है । अत्यन्त चिन्ता और पाप का आधार आत्मा है । वही कर्मों का कर्ता और वही भोक्ता है ।

अब हम समझ सकते हैं कि शरीर और मन के रोग वस्तुतः आत्मिक रोग के लक्षण हैं । वैद्य लोग बतलाते हैं कि ज्वर कोई रोग नहीं है, वह शरीर के अन्दर वर्तमान रोगों का चिह्न है । पेट में या सिर में दर्द हो, कोई फोड़ा या फुन्सी हो, जुकाम या कोई ऐसा ही अन्य रोग हो तो ज्वर हो जाता है । इलाज तो ज्वर का भी किया ही जाता है, परन्तु वह इलाज अधूरा ही है । आंतों में विकार हो, ज्वर की दवा पर दवा दिए जाइए, ज्वर बढ़ेगा, घटेगा नहीं । ज्वर तब हटेगा जब आंतों का विकार दूर हो जाएगा । इसी प्रकार शारीरिक और मानसिक रोग भी अन्ततोगत्वा आत्मिक दोषों के परिणाम और चिह्न हैं, चिकित्सा-शास्त्र की भाषा में हम उन्हें आध्यात्मिक रोगों के लक्षण कह सकते हैं ।

—

तृतीय प्रकरण

आध्यात्मिक रोगों के कारण

जैसे शरीर के सब दोष वात, पित्त और कफ इन तीनों श्रेणियों में बांटे जाते हैं, उसी प्रकार आत्मा के सब दोष(१)

काम, (२) क्रोध और (३) लोभ, इन तीन श्रेणियों में विभक्त किए जाते हैं।

दोषों की यह विशेषता है कि वे सीमित और उचित मात्रा में जीवन के साधन हैं; उस दशा में वे दोष नहीं रहते।

शरीर के दोषों को लीजिए। बढ़ा हुआ वात महादोष है और अनगिनत रोगों का निमित्त बन जाता है, परन्तु वही परिमित मात्रा में शरीर की सब चेष्टाओं का कारण है। भड़का हुआ पित्त अनेक रोगों को जन्म देता है परन्तु यदि पित्त न हो तो मनुष्य की जीवन शक्ति जाती रहे। परिमित कफ़ मस्तिष्क और छाती की शक्तियों की संरक्षा के लिए आवश्यक होता हुआ भी सीमा का अतिक्रमण करने पर भयानक दोष बन जाता है और कई विनाशकारी रोगों को उत्पन्न कर देता है।

इसी प्रकार काम, क्रोध और लोभ अपने परिमित प्रेम, मन्यु तथा अभिलाषी के रूप में मनुष्य के भूषण परन्तु उग्र रूप मे भयानक दूषण बन जाते हैं।

ससार के कर्तव्याकर्तव्य शास्त्रों में शायद ही किसी शास्त्र की इतनी व्यावहारिक महत्ता हो जितनी भगवद्गीता की है। यह मनुष्य की ऐहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की समस्याओं का हल प्रस्तुत करने में अद्वितीय है। वेदों और उपनिषदों में जो सत्य सिद्धान्त रूप में बतलाए गए थे, भगवद्-गीता में उन की व्यावहारिक रूप में बहुत ही सुन्दर और विशद व्याख्या है। दु:ख के कारणों के विषय में कहा है —

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
काम: क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

आत्मा को दुःख रूपी नरक में ले जाने वाले तीन दोष हैं — काम, क्रोध तथा लोभ; मनुष्य इन से बचे ।

आत्मा के रोग (जिन्हें हम ग्रन्थ में 'आध्यात्मिक रोग' कहेंगे) अनेक हैं । उन के मूल कारण ये तीन ही हैं । यह स्थापना निम्नलिखित कुछ दृष्टांतों से स्पष्ट हो जायगी ।

विषय लम्पटता, मद्यपान, अब्रह्मचर्य आदि रोग अत्यन्त कामवासना के परिणाम हैं जो स्वयं बहुसंख्यक शारीरिक तथा मानसिक रोगों के कारण बन जाते हैं ।

कठोरता, अत्यन्त रोष, हिंसा मे प्रवृत्ति आदि रोग क्रोध-जन्य हैं, जो संसार के आघात, प्रतिघात, मारकाट और युद्धों को जन्म देते हैं ।

लोभजन्य दोष, परशोषण, चोरी, कंजूसी, स्वार्थ परा-यणता आदि हैं जो संसार की अधिकतर सामाजिक और आर्थिक समस्याओं का मूल कारण हैं ।

आध्यात्मिक रोगों का और उन के उपचार का यथासंभव पूरा विवरण आगे दिया जायगा । यहां केवल इतना दिखाना अभीष्ट है कि कारणों की दृष्टि से उन्हें तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है ।

चौथा दोष मोह है, अज्ञानमूलक मोह । दोषों की संख्या में अन्तिम परन्तु महत्ता में प्रथम कारण मोह (सम्मोह) है,

जो आत्मा की निर्बलता से उत्पन्न होता है । वह कभी-कभी ज्ञानियों को भी आ घेरता है । उस का ऐतिहासिक दृष्टान्त महाभारत संग्राम के आरम्भ में अर्जुन का संमोह है । दोनों ओर की सेनाएं युद्ध के लिए समुद्यत खड़ी हैं, सेनापतियों के शंख गूंज रहे हैं और प्रत्यञ्चा पर तीर आरोपित होने को हैं कि अकस्मात् अर्जुन के मन पर अन्धेरा छा जाता है और वह गोविन्द को 'न योत्स्ये — मैं युद्ध नहीं करूंगा' ऐसी सूचना दे कर गांडीव रथ मे रख देता है । उस समय अर्जुन की जो शारीरिक दशा थी, गीता में उस का स्वयं अर्जुन के मुंह से वर्णन कराया गया हैं —

सीदन्ति मम गात्राणि, मुखञ्च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे, रोमहर्षश्च जायते ।।

मेरे अङ्ग शिथिल हो रहे हैं, मुंह सूख रहा है, शरीर कांप रहा है और रोएं खड़े हो रहे हैं । ये सम्मोह के शारीरिक चिह्न हे और मानसिक चिह्न है, क्या करूं, क्या न करूं यह निश्चय और बुद्धि में प्रकाश का अभाव । मन की उस दशा मे या तो मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ़ हो कर चेष्टाहीन हो जाता है अथवा न करने योग्य काम कर बैठता है, वह या तो अकर्मा हो जाता है, अथवा विकर्मा । दोनों दशाओं में वह स्वयं अपने लिए तथा अन्यों के लिए भी दुःख का कारण बनता है ।

—

चतुर्थ प्रकरण

दोषों के मूल कारण

हमने देखा कि सब आध्यात्मिक रोगों के कारण काम, क्रोध और लोभ ये तीनों दोष हैं। अब विचारणीय प्रश्न यह है कि इन दोषों के मूल कारण कौनसे हैं ?

मनुष्य के गुण और दोष आकस्मिक नहीं होते। अन्य सब विकास पाने वाली वस्तुओं की भांति उनके भी कारण होते हैं। यह समझना भी भूल है कि किसी एक ही कारण से मनुष्य का स्वभाव बन जाता है, उस में विशेष गुण या दोष आ जाते हैं। मनुष्य के चरित्र के निर्माण में कई कारणों का अपना-अपना भाग रहता है। व्यक्तिगत स्वभाव उन सब के समुच्चय से बनता है। वे कारण निम्न लिखित हैं —

१. **पूर्व जन्म के संस्कार** — जो लोग पूर्व जन्म में विश्वास नहीं रखते, उनके लिए मनुष्य जीवन की बहुत सी समस्याएं अनसुलझी ही रह जाती हैं। असाधारण प्रतिभा, कहीं-कही पूर्व जन्म की स्मृतियां, बचपन की प्रवृत्तियां तथा ऐसी ही अन्य कई वस्तुएं ऐसी हैं, जिन्हें पूर्व जन्म को माने बिना पूरी तरह समझा नहीं जा सकता। भारतीय तत्त्वज्ञान का मूल आधार पुनर्जन्म में विश्वास है। मनुष्य के जीवन को रंग देने वाले, उसके चरित्र को प्रभावित करने के सब से पहले कारण पूर्व जन्म के संस्कार हैं। एक ही माता-पिता के, एक सी परिस्थितियों में पले और शिक्षा पाये हुए भाई-बहिनों में जो स्वभाव भेद पाया जाता है, उसमें पूर्व जन्म के संस्कार ही कारण होते हैं। वे उनके स्वाभाविक गुणों को भी प्रभावित

करते हैं, और दोषों को भी। बच्चों के चरित्र का निर्माण करने वाले माता-पिता और शिक्षक का सब से अधिक महत्त्व-पूर्ण कर्तव्य यह है कि वे बच्चों की पूर्व जन्म के संस्कारों के प्रभाव से बनी हुई स्वाभाविक प्रवृत्तियों का अनुशीलन करें।

२. **पैतृक संस्कार** — मनुष्य के चरित्र को प्रभावित करने वाली दूसरी वस्तु माता पिता के दिए हुए संस्कार हैं। सभी समयों और और सभी देशों के विचारकों ने पैतृक संस्कारों की सत्ता को स्वीकार किया है। 'पैतृक' शब्द से माता और पिता दोनों के संस्कारों का ग्रहण होता है। बच्चे पर माता पिता के संस्कार दो प्रकार से पड़ते हैं। एक जन्म से पहले और दूसरे जन्म के पश्चात् जब तक बच्चा घर में रहे। दोनों प्रकार के संस्कारों का बच्चों पर इतना गहरा असर पड़ता है कि वह प्रायः पूर्व जन्म के संस्कारों को दबा देता है। कारण यह कि पूर्व जन्म के संस्कार समय और परि-स्थितियों के प्रभाव से शीघ्र ही शिथिल होने लगते हैं और पैतृक संस्कार उन का स्थान लेने लगते हैं। मनुष्य के बहुत से गुण, दोष बीज रूप में उसे माता-पिता से उत्तराधिकार में प्राप्त होते हैं।

३. **वातावरण** — वातावरण से मेरा अभिप्राय परि-वार के अन्दर और बाहिर की उन परिस्थितियों से है, जो बच्चे पर प्रभाव डालती हैं। अन्दर की परिस्थितियों में परि-वार के अन्य परिजनों तथा निवासस्थान का समावेश है और बाहर की परिस्थितियों में अड़ोस-पड़ोस, ग्राम तथा शहर की

भौतिक, सामाजिक और देश की राजनीतिक स्थिति आदि सब वस्तुएं सम्मिलित हैं। इन सब का मनुष्य के व्यक्तित्व पर और चरित्र पर गहरा प्रभाव पड़ता है। गन्दे वातावरण में विकास पाया हुआ चरित्र सामान्यत: दोषयुक्त होगा, यह स्थापना निर्विवाद रूप से की जा सकती है। इसी प्रकार यह कहना भी अनुचित न होगा कि राजनीतिक दृष्टि से पराधीन देश में पले हुए मनुष्यों की मानसिक ऊंचाई पूर्णता तक नहीं पहुंचेगी। यों विशेष इन सब परिस्थितियों के जाल को काट कर स्वयं ही उन से ऊंचे नहीं उठ जाते, राष्ट्र को भी दलदल में से निकाल देते हैं, परन्तु वे अपवाद हैं, नियम नहीं। नियम यही है कि परिस्थितिया मनुष्य के चरित्र पर थोड़ा बहुत प्रभाव अवश्य डालती है।

४. **अशिक्षा तथा कुशिक्षा**— मनुष्य के चरित्र को स्थिर रूप देने का मुख्य साधन शिक्षा है। अन्य साधनों का प्रभाव परोक्ष और दूरवर्ती हो सकता है, परन्तु शिक्षा का प्रभाव प्रत्यक्ष और सीधा होता है। शिक्षा का तो उद्देश्य ही मनुष्य के व्यक्तित्व को बनाना है। जो लोग वाणी से शिक्षा का यह उद्देश्य न मानें, उन्हें भी यह तो स्वीकार करना ही पड़ता है कि शिक्षा का मनुष्य के चरित्र और व्यक्तित्व की रचना पर अन्य सब कारणों से अधिक प्रभाव पड़ता है। सुशिक्षा मनुष्य को अच्छा बनाती है तो कुशिक्षा उस में दोष उत्पन्न कर देती है और यदि अन्य कारणों से दोष उत्पन्न हो चुके हों तो उन्हें विशाल और दृढ़ कर देती है।

६. कुसङ्गति — शिक्षा से दूसरे दर्जे पर, जिस वस्तु का चरित्र पर गहरा प्रभाव पड़ता है, वह संगति है। अच्छे व्यक्तियों की संगति से मनुष्य के स्वभाव में बीज रूप से विद्यमान अच्छे सस्कारों का विकास होता है, तो बुरे लोगों की सगति से उस के दोषयुक्त सस्कार पुष्टि पाते है। शैशव मे माता-पिता की सगति और उस के पश्चात् मित्रों और हमजोलियो को सगति मनुष्य के जीवन को सांचे मे ढालने का मुख्य साधन बनती है। मनुष्य चाहे कितना ही बड़ा हो, वह अपने संगी साथियों से गुणों और दोषों का आदान-प्रदान करता है।

कुसगति दोषों की उत्पति व विकास का एक मुख्य और बलवान् कारण है।

६. असावधानता — मनुष्य में दोषों के प्रवेश और विकास का एक बड़ा कारण यह होता है कि वह समझदार होने पर भी असावधान हो जाता है। वह समझने लगता है, जो कुछ हो रहा है, सब ठीक है। उस के नियन्त्रण की कोई आवश्यकता नहीं। जो दोष प्रवेश कर जाते है, कभी उन्हें स्वाभाविक और कभी आकस्मिक कह कर उपेक्षा कर देता है। परिणाम यह होता है कि वे दोष दृढ़ हो जाते हैं और चरित्र का स्थायी भाग बनने लगते हैं। ऐसे ही लोग जब अपने को दोषों के जाल में फंसा हुआ पाते है, तो पुकार उठते हैं —

जानामि धर्मन्न च मे प्रवृत्तिः,
जानाम्यधर्मन्न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन,
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

अर्थात्

मैं धर्म को जानता हूं,
परन्तु उस में मेरी प्रवृत्ति नहीं ।
अधर्म को भी जानता हूं,
परन्तु उसे छोड़ नहीं सकता ।
मेरे हृदय में कोई ऐसा देव बैठा हुआ है,
जो मुझे प्रेरित करता रहता है ।
उस की जैसी प्रेरणा हो,
मैं वैसा ही करने लगता हूं ।

जो ज्ञानी होते हुए भी प्रारम्भ में असावधान रहते हैं, दोष रूपी चोर उन के घर में चुपके से प्रवेश कर जाते हैं । वे तब जागते हैं जब घर पर चोर का अधिकार जम जाता है और तब वे अपने दोषों को किसी 'देव' के सिर मढ़ने लगते हैं ।

—

पञ्चम अध्याय

निरोध के उपाय

प्रथम प्रकरण

औषध से निरोध श्रेष्ठ है

एक नीतिकार ने कहा है —

प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूरादस्पर्शनं वरम् ।

कीचड़ लग जाने पर उसे धोने की अपेक्षा यह अच्छा है कि कीचड़ लगने ही न दिया जाय । अंग्रेजो की उक्ति है — 'Prevention is better than cure' बीमारी को आने से पहले रोक देना उसके इलाज से कहीं अच्छा है। अच्छे चिकित्सक का कर्तव्य है कि वह लोगों को ऐसे उपाय बतलाये जिस से वे रोग से बचे रहें । सर्दी से उत्पन्न होने वाले खांसी, जुकाम, ज्वर आदि रोगों से बचने का उपाय यह है कि शीत से बचा जाये और शीत से बचने का उपाय यह है कि आवश्यक गर्म कपड़े पहिने जायें, पोषक भोजन किया जाय, और स्वास्थ्य सम्बन्धी अन्य नियमों के पालन द्वारा शरीर की शक्ति की रक्षा की जाय । जैसे ये रोग के निरोध के उपाय हैं, इसी प्रकार चौथे अध्याय में वर्णित कारणों से उत्पन्न होने वाले दोषों और उन से उत्पन्न होने वाले रोगों के निरोध के भी अनेक उपाय हैं । उन्हें हम रोग के आने से पहले ही उसका

रास्ता रोकने के साधन होने के कारण आध्यात्मिक रोगों के निरोधक उपचार कह सकते हैं। उन में से कुछ ये हैं —

माता-पिता का संयत जीवन — हम ने ऊपर बतलाया है कि मनुष्य के चरित्र पर सब से पहला प्रभाव पूर्व जन्म के संस्कारों का पड़ता है, परन्तु पूर्व जन्म के सस्कारों की यह विशेषता है कि सामान्य रूप से वे बहुत थोड़े समय तक सक्रिय रहते हैं । कई बच्चों में पूर्व जन्म की स्मृतियां कुछ दिनों या महीनों तक ही कायम रहती हैं, सस्कार कुछ अधिक समय तक चलते हैं, परन्तु वे भी जीवन के नये अनुभवों के सामने देर तक नहीं ठहर सकते । यदि वे सर्वथा नष्ट न भी हो जांय, तो दब अवश्य जाते हैं और तब तक दबे रहते हैं जब तक समान रूप की कोई अत्यन्त तीव्र अनुभूति उन्हें जागृत न कर दे।

चरित्र का असली निर्माण माता पिता से आरम्भ होता है । वे ही मनुष्य के प्रथम गुरु हैं । 'मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद' का यही अभिप्राय है । मनुष्य का सब से पहला गुरु माता, दूसरा पिता और तीसरा आचार्य है । जन्म से ले कर जब तक बच्चा मां का दूध पीता है, और मां की गोद में रहता है तब तक उस के शरीर और मन पर मुख्य रूप से मां के आहार विहार का प्रभाव पड़ता है। बच्चे की उस दशा में माता को यह समझ कर जीवन व्यतीत करना चाहिए कि वह बच्चे के लिये जी रही है । छोटे बच्चे वाली माताओं के लिये हमारे देश में कुछ ऐसे नियम प्रचलित थे, जो बहुत

लाभदायक थे। उन के भोजन छादन की पद्धति घर की बड़ी बूढ़ियाँ जानतीं थीं। उन मे कुछ अज्ञानमूलक दोष भी थे, यह खेद की बात है कि उन दोषो के निवारण के यत्न में बहुत सी लाभदायक रीतियां भी नष्ट हो गईं। रीतियां लुप्त होतीं जाती है, और वैज्ञानिक नियमों के अनुसार जीवन आरम्भ नही हुए, परिणाम यह है कि सामान्य लोगों मे छोटे बच्चों की माताओं का जीवन प्रचलित पद्धति की पटरी से उतर कर सर्वथा अव्यवस्थित हो गया है और समृद्ध वर्गों के बच्चे धाया और आया के संस्कारों में पलते हैं। परिणाम यह हो रहा है कि उन के चरित्र की नीव बहुत कच्ची रह जाती है। उन मे वह दृढ़ता नही आती जो आगन्तुक दोषों का प्रतिरोध करने के लिये आवश्यक है।

जब बच्चा जरा बड़ा होता है, तब उस पर पिता के प्रभाव भी पड़ने लगते हैं। बिरले पिता है, जो सदा यह ध्यान रखते हैं कि वे अपने रहन-सहन और व्यवहार से बच्चों के जीवन को बना या बिगाड़ रहे हैं। वस्तुतः लड़कों की जीवन यात्रा की दिशा निश्चय करने वाले उन के पिता ही होते हैं। यह बात तिल दीखने वाली साधारण घटनाओं से ही स्पष्ट हो जायगी। यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि तम्बाकू या बीड़ी का प्रयोग करने वाले पिताओं के लड़के तम्बाकू या बीड़ी का किसी न किसी रूप में प्रयोग करेंगे। शराबी पिता का पुत्र प्रायः शराबी होगा — सम्भवतः उन का अनुपात ५० फीसदी होगा। डाक्टर का लड़का डाक्टर और वकील

का लड़का वकील बनना चाहता है। सामान्य रूप से यही नियम है, अपवाद तो होते ही हैं।

इसी प्रकार कन्याओं पर उन की माताओं के स्वभाव और व्यवहार का प्रभाव पड़ता है।

माता-पिता के परस्पर व्यवहार का भी बच्चों पर बहुत गहरा प्रभाव होता है। कई गृहस्थ परस्पर राजस् भावनाओं को प्रकाशित करने में सावधानता से काम नहीं लेते, न प्रेम प्रदर्शित करते हुए और न आपस में लड़ते हुए। वे नहीं जानते कि उन के व्यवहार से सन्तान के हृदय में विष के बीज बोये जा रहे हैं। वे यदि कच्चे घड़े के समान ग्रहणशील बच्चों के सामने कामचेष्टा करते हैं अथवा आपस में लड़ते-झगड़ते और अपशब्द कहते हैं तो उन्हें समझ लेना चाहिये कि उन्होंने अपने हाथ से अपनी सन्तान के भविष्य पर कुठाराघात कर दिया। माता-पिता के वातावरण और माता-पिता के अलग-अलग और परस्पर व्यवहार का बच्चों के चरित्र निर्माण पर जितना गहरा असर होता है, उतना शायद दूसरे किसी कारण का नहीं होता।

—

द्वितीय प्रकरण

शिक्षा

मनुष्य के चरित्र को बनाने का दूसरा साधन शिक्षा है। पूर्व जन्म के संस्कारों की खुदी हुई नींव में माता-पिता के डाले

हुए प्रभावों की चिनाई होती है और शिक्षा उस पर दीवार खड़ी करती है। वस्तुतः मनुष्य का जो संसार को दीखने वाला रूप बनता है, उसका साधन शिक्षा है।

'शिक्षा' शब्द बहुत व्यापक है। केवल स्कूलों, कालिजों या अन्य शिक्षणालयों की शिक्षा ही शिक्षा नहीं कहलाती। जिन बिछुड़ी हुई जातियों में शिक्षणालयों का रिवाज नहीं है, वहां भी बालक-बालिकाओं को अपने-अपने ढग पर शिक्षा देने का रिवाज है। सिखाने वाले माता-पिता हों या गुरू- उस्ताद आदि हों, जीवनोपयोगी काम सिखाने की व्यवस्था प्रत्येक जाति में रहती है। उस प्राकृत शिक्षण से लेकर बहुत विकसित शिक्षणालयों तक की शिक्षा का उद्देश्य यही रहता है कि बालकों और बालिकाओं को अपने समाज का उपयोगी सदस्य बनाया जाय। उपयोगी सदस्य वे ही हो सकते हैं जिनका चरित्र दृढ़ हो और जो समाज की शक्ति को बढ़ा सकें। जिन में ये गुण न हों, समाज के वे सदस्य अपने दुःख का कारण तो बनेंगे ही, अपने परिवार को और सारे समाज के लिए दुःखदायी होंगे। शिक्षा का उद्देश्य यह होना चाहिए कि वह जाति की भावी सन्तति को सच्चरित्र और समाज के लिए उपयोगी बना दे।

शिक्षा का उद्देश्य तथा रूप

सभी देशों के विचारक अत्यन्त प्राचीनकाल से यह बतलाते आये हैं कि शिक्षा का असली उद्देश्य मनुष्य के पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण करना है। पूर्ण व्यक्तित्व में मनुष्य के व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के गुण आ जाते हैं। मनुष्य के

शरीर, मन और आत्मा तीनों बलवान् हों, उसका चरित्र दृढ़ हो और वह अपने सामाजिक कर्तव्यों के पालन में तत्पर और समर्थ हो, तभी उसे पूर्ण व्यक्तित्व से युक्त मनुष्य कह सकते हैं। शिक्षा का यह उद्देश्य प्रायः सभी बड़े तत्त्ववेत्ताओं ने स्वीकार किया है। कभी-कभी सकुचित आदर्श भी प्रस्तुत किए जाते रहे हैं। उन्नीसवी सदी के प्रथम चरण में पश्चिम में आर्थिक युग का ऐसा गहरा प्रभाव हुआ था कि उसने विचारकों तक के दृष्टिकोण को बदल दिया था। उस युग ने नास्तिकता, उपयोगितावाद, विकासवाद आदि एकागी थादों को जन्म देने के साथ-साथ शिक्षासम्बन्धी दृष्टिकोण को भी बदल दिया था। रोटी कमाने की योग्यता उत्पन्न करना शिक्षा का उद्देश्य माना जाने लगा था। अनुभव ने बतलया कि वह दृष्टिकोण बहुत ही अशुद्ध था। चरित्रहीन मनुष्य यदि धन उत्पन्न करेगा तो जहां उस के धन उत्पन्न करने के साधन अन्याययुक्त और स्वार्थपूर्ण होंगे, वहा उस अर्थ का प्रयोग भी अपने लिए और समाज के लिए हानिकारक होगा। फलतः केवल अर्थकरी शिक्षा व्यक्ति और समाज के लिए विष के समान होगी। स्पष्ट है कि यदि व्यक्ति और जाति दोनों को बुराई और उस से उत्पन्न होने वाले कष्टों से बचाना है तो शिक्षा का आदर्श ऊंचा होना चाहिए। शिक्षा का ऊंचा आदर्श यही है कि व्यक्ति के शरीर और मन को पूर्ण रूप से विकसित करके उसे दृढ़, चरित्रवान्, ज्ञानवान् और समाज का उपयोगी अंग बनाया जाय। शिक्षणालय ऐसे स्थान पर हों जहां छात्र गन्दे प्रभावों

से बचे रहें, शिक्षक लोग ऐसे हों जिनके जीवनों का छात्रों पर शोभन प्रभाव पड़े और पाठन प्रणाली ऐसी हो जिस से शरीर और बुद्धि का समानान्तर विकास हो। देश के भाग्य निर्माताओं को सदा ध्यान रखना चाहिए कि आज जैसी शिक्षा दी जायगी, कल जाति वैसी ही बन जायगी।

शिक्षा का लक्षण मनुष्य को ज्ञान प्राप्त कराना है। ज्ञान वस्तुतः मनुष्य की आंख है। ज्ञान के बिना चर्मचक्षुओं के रहते हुए भी वह अन्धा है क्योंकि उसके सामने जो घातक बाधाएं आती हैं वे माथे में लगी हुई दो आंखों से दिखाई नहीं देतीं। उन्हें देखने के लिए बुद्धि चाहिए। जो शिक्षा सच्चे ज्ञान द्वारा बुद्धि को विशद नहीं करती वह मनुष्य की मित्र नहीं, शत्रु है।

अच्छी शिक्षा से सद्विद्या प्राप्त होती है जो मनुष्य को ज्ञानरूपी चक्षुए देकर जीवन का सन्मार्ग दिखाती है।

—

तृतीय प्रकरण

उचित आहार-विहार

हम प्रथम अध्याय के चतुर्थ प्रकरण में बता आए हैं कि जीवात्मा की दुःख रहित अवस्था को भगवद्गीता में 'प्रसाद' कहा है। हम इस ग्रन्थ में जहां भी प्रसाद शब्द का प्रयोग करें, उसका यही पारिभाषिक अर्थ लेना चाहिये।

'प्रसाद' प्राप्त करने का मुख्य साधन 'योग' है। 'योग' का नाम सुन कर पाठक घबराएं नही। जैसे मैंने 'प्रसाद' शब्द का प्रयोग भगवद्गीता की परिभाषा के अनुसार किया है, वैसे ही 'योग' से भी मेरा वही अभिप्राय है जो भगवद्गीता में बतलाया गया है। भगवद्गीता में परमयोगी का यह लक्षण किया गया है —

आत्मौपम्येन सर्वत्र,
समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं,
स योगी परमो मतः॥

जो मनुष्य प्राणिमात्र के सुख-दुःख को अपने सुख-दुःख के समान समझता है, उसे योगी समझो। योगी को ही युक्त कहते हैं। असली शान्ति की प्राप्ति के लिए मनुष्य को योगी या युक्त होना आवश्यक है। भगवद्गीता में योगी की और भी अधिक सरल व्याख्या करते हुए कहा गया है —

योगः कर्मसु कौशलम्।

कर्मों को करने में कुशलता योग है और इस में सन्देह नहीं कि कुशलता ही वास्तविक सफलता की कुञ्जी है। 'प्रसाद' और 'सफलता' को देने वाले 'योग' की प्राप्ति के लिए भगवद्गीता में जो पहला और अत्यावश्यक साधन बतलाया गया है, वह युक्त आहार और विहार है। कहा है

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥
— ६. १७ ।

जिस के आहार (भोजन), विहार (रहन-सहन) नियमित हैं, जिस के आचरण संयम से युक्त हैं और जिस का सोना तथा जागना नपा-तुला है उस के लिए योग दुःख का नाशक है ।

' नियमित ' शब्द की व्याख्या इस से पहले श्लोक में की गई है —

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥
— ६. १६ ।

अत्यन्त खाने वाला योगी नहीं हो सकता और न सर्वथा न खाने वाला ही योग को सिद्ध कर सकता है । इसी प्रकार न अत्यन्त सोने वाला योगी हो सकता है और न सर्वथा न सोने वाला योग को सिद्ध कर सकता है ।

यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि भगवद्गीता में बतलाया योग कोई ऐसी वस्तु नहीं जो केवल संसार से अलग रहने वाले वैरागी के लिए ही सम्भव हो । भगवद्गीता में जिस कर्म-योग का उपदेश दिया गया है वह संसार में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव है । कर्म-योगी बनने के

लिए शुद्ध आहार-विहार आवश्यक है।

आहार के सम्बन्ध में भगवद्गीता मे बहुत सुन्दर विवेचन किया गया है। निम्नांकित तीन श्लोकों में उत्तम, मध्यम और अधम भोजन का रूप स्पष्ट शब्दों में प्रदर्शित किया गया है —

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्विकप्रियाः ।।
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः ।।
यातयामं गतरसं पूतिपर्युषितं च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् ।।

— १७. ८, ९, १० ।

आयु, बुद्धि, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले, रसदार, चिकने, अधिक ठहरने वाले और हृदय को बल देने वाले आहार सात्विक भावना वाले व्यक्तियों को प्रिय होते हैं। जो भोजन स्वास्थ्य के लिए अच्छा हो, बल और सुख को बढ़ाने वाला हो और रसदार हो वह सात्त्विकता के अनुकूल और श्रेष्ठ है।

परन्तु कड़वे, खट्टे, खारे, बहुत गर्म, बहुत तीखे, रूखे और शरीर में दाह करने वाले भोजन हैं, शरीर को दुःख और मन में शोक उत्पन्न करने के कारण होने से राजस लोगों को प्रिय हैं। राजस व्यक्ति जिह्वा के क्षणिक सुख को मुख्य

रखता है और स्थायी लाभ को गौण । वह ऐसे भोजन की इच्छा रखता है जो जिह्वा को चटपटा लगे और उस समय के लिए गुदीगुदी सी पैदा करे । ऐसा भोजन मध्यम है ।

ठंडा, बासी, बदबूदार, बिगड़ा हुआ, जूठा और गन्दा भोजन तामस वृत्ति के व्यक्तियों को प्रिय होता है । तामस वृत्ति के लोग मद्य जैसी दुर्गन्धयुक्त बेस्वाद और स्वास्थ्य के लिए हानिकर चीज़ों को खाते हैं । उन्हें ताजा फलों की अपेक्षा फलों और सब्जियों के दुर्गन्धयुक्त व अहितकर अचार अधिक पसन्द होते हैं । ऐसे भोजन करने से तमोगुण की प्रवृत्तियों की वृद्धि होती है ।

सात्त्विक भोजन मनुष्य को संयमी बना कर दोषचतुष्टय (काम, क्रोध, लोभ और मोह) से बचाता है, राजस भोजन उसे दोषो की ओर प्रवृत्ति करता है और तामस भोजन उसे दोषों के सागर में डुबो देता है । इस कारण दोषों से उत्पन्न होने वाले दु:खों से बचने के लिए मनुष्य के लिए आवश्यक है कि वह उत्तम और उचित आहार किया करे ।

विहार का अर्थ है रहन-सहन । जो मनुष्य अच्छा और सुखी जीवन व्यतीत करना चाहे, उस के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि भोजन और निद्रा की तरह अन्य सब कार्यों में भी सयम और नियम से काम ले । स्वच्छ, सुन्दर और सादे कपड़े पहिनना उचित है और केवल दिखावे या शौकीनी के लिए कपड़ों को सजावट और शृङ्गार में लगे रहना हानिकारक है। सीमा का उल्लंघन सभी कामों में बुरा है, उस से मनुष्य के

जीवन का सन्तुलन बिगड़ जाता है और मन की बेचैनी बढ़ जाती है। जो मनुष्य बुद्धिपूर्वक नियम और संयम के अनुसार अपनी जीवनचर्या बना लेता है, वह गीता के मतानुसार कर्मयोगी बन जाता है, और न केवल स्वयं सुखी हो जाता है अन्यों के सुख का भी कारण बनता है।

आहार के बारे में आयुर्वेद का निम्नलिखित निर्देश सदा स्मरण रखने और व्यवहार में लाने योग्य है—

हिताशी स्यान्मिताशी स्यात्, कालभोजी जितेन्द्रियः।

जो अच्छे स्वास्थ्य और दीर्घ जीवन की इच्छा रखता हो उसे चार सुनहरे नियमों का पालन करना चाहिए—

१. हिताशी हो। जो शरीर को, स्वास्थ्य को बल देने वाला हो, ऐसा भोजन करे।

२. मिताशी हो। भूख से अधिक कभी न खाये, कुछ कम ही खाये तो अच्छा है।

३. कालभोजी हो। नियत समय पर भोजन करे। अच्छे से अच्छा भोजन भी यदि मात्रा से अधिक किया जाय अथवा नियत समय से पहिले या समय बिता कर किया जाय तो शरीर के लिए हानिकारक होता है।

४. जितेन्द्रिय हो। खाने में चटोरा न बने। किसी वस्तु को स्वाद के लिए नहीं अपितु शरीर की पुष्टि और रक्षा के लिए भोजन योग्य समझे। केवल स्वाद के लिए अधिक किया हुआ भोजन स्वास्थ्य के लिए विष सिद्ध होता है।

भोजन विज्ञान के पौरस्त्य और पाश्चात्य, तथा प्राचीन और अर्वाचीन विशेषज्ञों के बहुमत को दृष्टि में रख कर हम उत्तम, मध्यम और अधम भोज्य पदार्थों की निम्नलिखित निर्देशक सूची बना सकते हैं —

उत्तम भोजन — जल, दूध, अन्न (गेहूं, चावल, ज्वार, बाजरा, आदि), दाल (अरहर, उर्द, मूंग आदि), फली (फराशबीन, सोयाबीन, आदि), सब्जी, फल, मेवा, शहद ।

मध्यम भोजन — तले हुए पदार्थ, मिठाई, मिर्च, मसाला, अचार आदि ।

अधम भोजन — मांस, मद्य, अन्न, गरम मसाले आदि ।

अच्छे अनुकूल और परिमित भोज की बड़ी महिमा है । रोगों की निवृत्ति का मुख्य उपाय वही है । कहा है —

पथ्येसत्ति गदार्तस्य किमौषधनिषेवणैः ।

इस के दो अर्थ हैं । यदि पथ्य (उत्तम, अनुकूल और परिमित) भोजन लिया जाय तो रोगी को दवा की आवश्यकता ही क्या ? और यदि पथ्य भोजन न किया जाय तो दवा खाने से लाभ ही क्या ?

मनुष्य जैसा भोजन करता है, वैसा ही उस का शरीर बनता है, और वैसा ही मस्तिष्क का निर्माण होता है । भोजन का मन पर बहुत असर होता है । इस कारण जो मनुष्य शारीरिक व आध्यात्मिक रोगों से बचना चाहे उसे सात्त्विक भोजन करना चाहिये ।

—

चतुर्थ प्रकरण

सत्संगति

स्फटिक समान सफेद पत्थर को गहरे लाल या नीले रंग के पत्थर के पास रख दो, सफेद पत्थर लाल दीखने लगेगा, परन्तु लाल के रग पर कोई विशेष प्रभाव न पड़ेगा।

गन्धहीन जल को अत्यन्त सुगन्धित अर्क में डाल दो तो जल में सुगन्ध आ जायगी। इसी तरह जल को दुर्गन्धयुक्त अर्क में डाल दो जल से भी बदबू आने लगेगी।

ये संगति के परिणाम के दृष्टान्त हैं। सामान्य रूप से मनुष्य उस पत्थर की तरह होते हैं जिस में कोई गहरा रग न हो या उस जल की भाति होते हैं जिस में कोई विशेष गन्ध न हो। यही कारण है कि बाह्य जगत् से सम्पर्क होने पर उन पर बाहर के सबसे पहले प्रभाव माता-पिता द्वारा डाले जाते हैं। बच्चों के चरित्र की नीव माता-पिता के अलग-अलग और परस्पर व्यवहार के अनुभवों से भरी जाती है।

माता-पिता के प्रभाव से दूसरे नम्बर पर हमजोलियों और सहपाठियों का प्रभाव होना है। वह समय की दृष्टि से दूसरे नम्बर पर होता है परन्तु उसका प्रभाव गहरा और चिरस्थायी होता है।

अच्छी संगति से होने वाले शुभ परिणामों का वर्णन नीति कार ने निम्नलिखित पद्य में लिखा है —

जाड्यं धियोहरति, सिंचति वाचि सत्यं,
मनोन्नतिं दिशति, पापमपाकरोति।

चेतः प्रसादयति, दिक्षु तनोति कीर्तिम्,
सत्संगतिः कथय किं न करोति पुसाम् ॥

सत्सगति बुद्धि की जड़ता को नष्ट करती है, वाणी में सच बोलने की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है, यश को बढ़ाती है और पाप-वासना को दूर करती है। सत्संगति मनुष्य को कौन सी अच्छी वस्तु नहीं देती ?

भगवद्गीता में सग को मनुष्य की अच्छी-बुरी प्रवृत्तियों का चिह्न या सूचक कहा है। १७ वे अध्याय में जहां सत्व, रज और तम के प्रसग मे श्रद्धा की व्याख्या की है, वहां कहा है —

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥

प्रत्येक मनुष्य अपने स्वाभाविक गुण के अनुसार ही दूसरे व्यक्ति की ओर झुकता है। पुरुष जिस में जैसी श्रद्धा रखता है, उसे वैसा ही मानो।

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥

सात्त्विक वृत्ति के लोग श्रेष्ठ लोगों में भक्ति रखते हैं, राजस प्रकृति मनुष्य यक्षों और राक्षसों को आराध्यदेव मानते हैं और तमोगुणी लोग भूत-प्रेतों की उपासना करते हैं। यह संग

की महिमा है। मनुष्य अपनी प्रवृत्ति के अनुसार आराध्यदेव चुनता है और उसके समीप जाता है। जैसे तालाब का पानी किनारे पर लगे हुए वृक्षों के रंग से रंगा जाता है, उसके समीप आ कर वैसे मनुष्य भी संगी-साथियों से प्रभावित होता है।

माता-पिता और गुरु का कर्तव्य है कि बच्चों को न केवल सत्संगति के लाभ समझायें, उन्हें यत्नपूर्वक अच्छी संगति में प्रवृत्त करें। बड़े होने पर मनुष्य को स्वय ध्यान रखना चाहिए कि वह कुसगति से बचे। मनुष्य अधिकतर कुटेव संगदोष से ही सीखता है, और वह कुटेव ही उसे दोषों का पाठ पढ़ा कर दु:खों के गढ़े मे डालने का कारण बनते हैं।

—

पंचम प्रकरण

स्वाध्याय

मनुष्य को अच्छे सम्मानयुक्त और सुखकारी जीवन की शिक्षा देने वाले साहित्य का अध्ययन स्वाध्याय कहलाता है। ऐसा साहित्य सभी देशों और सभी भाषाओं में पाया जाता है। दिन के किसी भाग में सम्भव हो तो प्रभात में अथवा रात्रि के समय सोने से पूर्व कुछ समय तक स्वाध्याय करना मनुष्य में अच्छी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहित करता है, निराशा को दूर करता है और उसे जीवन के सग्राम में विजयी होने के योग्य बनाता है।

स्वाध्याय सत्संग का ही विस्तृत रूप है। जीवित सज्जनों

का संग सत्संग कहलाता है, और जो सज्जन हम से पूर्व हो गये है उन के ग्रन्थों द्वारा उन के सत्संग को स्वाध्याय कहते हैं। प्राचीन लेखकों ने सभी प्रकार के ग्रन्थ लिखे हैं। ऐसे भी लिखे हैं, जो मनुष्य को ऊंचा उठाने और कर्मण्य बनाने वाले हों और एसे भी लिखे है जो उसे विषय-वासना के गर्त में गिराने वाले हों। वर्तमान लेखकों के ग्रन्थ तथा लेख भी इन्हीं दो श्रेणियों मे बांटे जा सकते है। उन में से जो ग्रन्थ मनुष्य को अच्छी और हितकर शिक्षा देने वाले हैं उन का अध्ययन करने से मनुष्य दोषो से बचता है और सच्चे सुख को प्राप्त करता है।

प्रति दिन थोड़ा बहुत समय स्वाध्याय में लगाने का नियम मनुष्य के लिए अत्यन्त लाभदायक है। दिन भर के व्यस्त जीवन मे उसके सामने अनेक समस्याए आती हैं, उन से वह घबरा जाता है। कभी-कभी उलझन इतनी गहरी हो जाती है कि उसे चिन्ताओं के भवर में फसा देती है। अच्छे ग्रन्थों के स्वाध्याय से प्राय: ऐसी उलझनें बहुत आसानी से सुलझ जाती है। वेद का एक मन्त्र, गीता का एक श्लोक या रामायण का एक पद्य कभी-कभी मन मे ऐसा प्रकाश कर देता है कि चिन्ता का अन्धकार छिन्न-भिन्न हो जाता है।

सत्संग और स्वाध्याय मनुष्य की लम्बी जीवन यात्रा में मार्गदर्शक दीपक का काम देते हैं। दु:ख रूपी रोगों से बचने के लिए वे अचूक निवारक औषध सिद्ध होते हैं।

—

षष्ठ प्रकरण

श्रद्धा

अन्ध विश्वास और विश्वास में दिन-रात का अन्तर है। किसी वस्तु या व्यक्ति की परीक्षा बुद्धि से किए बिना ही उसे केवल दूसरों के कहे से विश्वास योग्य मान लेना 'अन्धविश्वास' कहलाता है। जिस की विवेक से परीक्षा कर ली है, उस वस्तु या व्यक्ति में आस्था रखना असली 'विश्वास' है। हमारी बुद्धि ने जिसे सत्य और यथार्थ मान लिया है, उस पर विश्वास रख कर जीवन का मार्ग निश्चित करने से सफलता प्राप्त होती है। परन्तु जो मनुष्य कापते हुए दिल और लड़खड़ाते हुए पांव से जीवन के कँटीले मार्ग पर चलने का प्रयत्न करता है, वह सदा दुःखी रहता है और निष्फलता का मुंह देखता है।

विश्वास का आधार श्रद्धा है। जिस में हमारी श्रद्धा है, उसी मे विश्वास भी होता है। श्रद्धा भी विवेक पूर्वक होनी चाहिये। अन्धी श्रद्धा को श्रद्धा नही कह सकते, वह तो व्यामोह है, अपने आप से धोखा है।

ऋग्वेद के श्रद्धासूक्त में कहा है —

> श्रद्धान्देवा यजमानाः वायुगोपा उपासते।
> श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया बिन्दते वसु॥

श्रेष्ठ कर्म करने वाले और ईश्वर से संरक्षण पाने वाले सत्पुरुष श्रद्धा की उपासना करते हैं। श्रद्धा हृदय की भावना से उत्पन्न होती है और सब प्रकार के ऐश्वर्य को देने

वाली है।

श्रद्धा की विस्तृत व्याख्या भगवद्गीता में की गई है। श्रद्धा तीन प्रकार की होती है —

त्रिविधा भवति श्रद्धा, देहिनां सा स्वभावजा।
सात्विकी राजसी चैव, तामसी चेति तां शृणु ॥

हे अर्जुन ! मनुष्यों में अपने-अपने स्वभाव के अनुसार तीन प्रकार की श्रद्धा होती है — सात्विक, राजसी, तामसी। उस का विवरण सुन।

सात्विकी श्रद्धा सत्यासत्य के विवेचन से उत्पन्न होती है। जिसे हम ने विवेक द्वारा सत्य जान लिया, यदि उस में श्रद्धा की जाती है, वह सात्विकी और सच्ची श्रद्धा है। जो श्रद्धा स्वार्थ अथवा आवेग के प्रभाव मे आकर की जाती है, वह राजसी श्रद्धा है, उसे हम श्रद्धा न कह कर हठवाद कहेंगे।

तामसी श्रद्धा वह है जो अज्ञान पूर्वक की जाय। सुनी-सुनी बातों से, मन के वहम से, अथवा बहकाने में आकर जो श्रद्धा की जाती है, उसे भेड़ चाल अथवा व्यामोह कहना उचित है। सच्ची श्रद्धा वही है, जो विवेक पूर्वक की जाय। किसी मन्तव्य में अथवा व्यक्ति में श्रद्धा करने से पूर्व उसे बुद्धि के तराजू पर रख कर तोलना चाहिये। यदि वह पूरा उतरे तो वह श्रद्धा का पात्र है अन्यथा उसका परित्याग कर देना उचित है।

श्रद्धा विश्वास का मूल है। जिस में मनुष्य की श्रद्धा है,

उसी में विश्वास भी होता है। सात्विकी श्रद्धा पर आश्रित जो विश्वास है, वही मनुष्य को आत्मिक दोषों से बचा कर दुःख से मोक्ष दिलाने वाला है।

व्यवहारिक दृष्टि से विश्वास को इन तीन शीर्षकों में बांटा जा सकता है —

१. ईश्वर मे विश्वास — आस्तिकता।
२. सत्य में विश्वास — सत्यनिष्ठा।
३. अपने आप मे विश्वास — आत्मविश्वास।

ईश्वर विश्वास

इन में से पहला ईश्वर विश्वास अन्य सब प्रकार के उचित विश्वासों का मूलाधार है। ईश्वर विश्वास के सम्बन्ध मे लोगों मे बहुत सी भ्रान्तियां फैली हुई हैं। प्राय: साधारण जन एक विशेष नाम से, विशेष प्रकार के ईश्वर मे विश्वास करते हैं। वे समझते हैं कि जिस नाम से जिस ईश्वर को वे समझते हैं, वही सच्चा ईश्वर है, बाकी ईश्वर नाम के दावेदार सब झूठे हैं। ईश्वर विश्वास शब्द का अभिप्राय है—एक ऐसी शक्ति में विश्वास जो मनुष्यों से ऊंची है, जो इस चराचर जगत् को बनाती और उस का संचालन करती है और जो मनुष्य के भले-बुरे कर्मों को देखती और तदनुसार उसे फल देती है। देश, जाति और भाषा के भेद से मनुष्यों में उस के अनेक नाम प्रचलित हैं और परिमित समझ वाले मनुष्यों ने अपनी-अपनी भावना के अनुसार उस के नाम भी अनेक रख लिए हैं परन्तु उस की सत्ता को प्राय: सभी स्वीकार करते हैं।

उस के रूप और नाम अनन्त हैं। मूल रूप में वह एक ही है। अशिक्षित तथा असंस्कारी लोग उस की सत्ता को समुद्र, जल और वनस्पति में अनुभव कर के उस की वहीं कल्पना कर लेते हैं; उन से कुछ ऊंची कोटि के व्यक्ति किसी पशु, पक्षी अथवा मनुष्य को ही सर्व शक्ति सम्पन्न मान कर पूज्यदेव के रूप में स्वीकार कर लेते हैं। उन से अधिक प्रतिभा वाले मनुष्य एक देवाधिदेव की सत्ता को अंगीकार कर के उसे सब भौतिक वस्तुओं से पृथक् और ऊंची शक्ति मान लेते हैं। ये सब ईश्वर-विश्वास की कोटियां हैं। यदि तात्विक दृष्टि से देखा जाय तो अपने को अनीश्वरवादी कहने वाले लोग भी उसे बुद्ध, जिन, नेचर, लेनिन आदि मानव और अमानव नामों से याद करते हैं। भेद केवल इतना है कि वे पूर्व-कालीन 'यहोवा', शिव या ज्यूपिटर के स्थान पर उत्तरकालीन व्यक्तियों के नामों का प्रयोग करते हैं। वस्तुतः वे भी मनुष्य से ऊंची नियामिका शक्ति में विश्वास रखते हैं। 'बुद्धं शरणं गच्छामि' जैसे वाक्यों का और क्या अभिप्राय हो सकता है? इस प्रकार हम देखते हैं कि एक मनुष्यातिशायिनी शक्ति में विश्वास सार्वजनिक है। उसी शक्ति का हम 'ईश्वर' नाम से निर्देश करते हैं। वस्तुतः उस के अनेक शायद अनन्त नाम हैं।

इस शक्ति में विश्वास जहां स्वाभाविक है वहां मनुष्य के जीवन के लिए अनिवार्य भी है। ईश्वर में दृढ़ विश्वास मनुष्य के मन में निर्भयता उत्पन्न करता है। वह अपने को कभी अकेला नहीं समझता है। बड़े से बड़े संकट में भी उसे एक

ऐसा सहारा दिखाई देता है, जिस से बड़ा सहारा नही हो सकता। ईश्वर में सच्चा विश्वास मनुष्य को पाप से बचाता है क्यों कि वह सदा एक न्यायाधीश को अपने पास और अपने अन्दर विद्यमान देखता है। विश्वासी पुरुष कभी निराश नहीं होता। वह बड़े से बड़े संकट और बड़ी से बड़ी निर्बलता की दशा में ईश्वर से सहायता मांग कर बल प्राप्त कर सकता है। इस में अणु-मात्र भी सन्देह नही कि अपनी-अपनी भावना के अनुसार ईश्वर विश्वास मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट सहारा है। यजुर्वेद के चालीसवे अध्याय में ईश्वर-विश्वासके आधार और परिणाम का बहुत स्पष्टता से वर्णन किया है —

ईशावास्यमिदं सर्वम्, यत्किंच जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः, मा गृधः कस्य स्विद्धनम्॥
कुर्वन्नेवेह कर्माणि, जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति, न कर्म लिप्यते नरे॥

व्यापक प्रकृति के गर्भ में विद्यमान इस सारे जगत् के बाहर और अन्दर ईश्वर का निवास है। इस कारण हे मनुष्य! इस जगत् का त्यागपूर्वक भोग कर।

इस संसार में मनुष्य कर्म करते हुए ही सौ साल तक जीने की इच्छा करे। इस प्रकार उस में कर्म लिप्त न होंगे। इस के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नही है।

विश्वास और श्रद्धा मनुष्य की सन्तुष्टि और सफलता के मूल अधार हैं। भगवद्गीता में कहा है —

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च, संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्तिन परो न सुखं संशयात्मनः ॥

ज्ञान हीन और श्रद्धा रहित मनुष्य संशय में पड़कर नष्ट हो जाता है। संशय मे पड़े मनुष्य के लिए तो न यह लोक है, न परलोक है और न ही सुख है।

सत्य पर विश्वास

जिसे हमने विवेक द्वारा सत्य मान लिया उस पर दृढ़ विश्वास रखना चाहिए। 'संशयात्मा विनश्यति' जो मनुष्य विचारों में डांवाडोल रहता है, वह नष्ट हो जाता है, यदि वह जीवित भी रहे तो अपनी शक्तियों से पूरा काम नहीं ले सकता। हमारे चित्त में असत्य न घुस सके, उस का एक ही उपाय है कि उस मे सत्य खूब पैर जमा कर बैठा रहे। खाली स्थान तो किसी न किसी तरह से भरेगा ही, सत्य से न भरेगा तो असत्य से भरेगा। दृढ़ निश्चय से नहीं भरेगा तो संशय से भरेगा और इस में सन्देह नहीं कि स्थायी संशय या वहम से बढ़ कर मनुष्य का कोई शत्रु नहीं। वह मनुष्य की शान्ति का नाश कर देता है और उस की कार्य करने की शक्ति के पांव तोड़ देता है। जिसे विचार पूर्वक स्वीकार कर लिया, उस पर पूरी निष्ठा रखने से मनुष्य अपनी जीवन-यात्रा को दृढ़ता से तय कर सकता है। उस के मन में सदा प्रसाद-पूरा सन्तोष-बना रहता है क्योंकि उस के हृदय में कर्तव्य-पालन की अनुभूति बनी रहती है।

अपने आप पर विश्वास

आत्मविश्वास, ईश्वर-विश्वास और सत्यविश्वास का परिणाम है। जिसे ईश्वर की न्याय परायणता पर विश्वास है वह जब तक सत्य मार्ग पर चलता है तब तक वह निभय रहता है, उसे दृढ निश्चय रहता है कि शाघ्र या देर म उसे सफलता अवश्य मिलगी। वह निराश नही होता और अपनी शक्ति पर भरोसा रखता है यही आत्मविश्वास है।

आत्मविश्वास साधारण सफलता की अपितु महत्ता की कुञ्जी है। आत्मविश्वास से शून्य मनुष्य किसी बड काम को उठा नहीं सकता। उठा ले तो, उसे पूरा नही कर सकता। छोटा सा विघ्न भी उसे पस्त कर देगा। ससार में जितने महापुरुष हुए हैं, आत्मविश्वास उन का विशष गुण रहा है। योगिराज कृष्ण ने अर्जुन से कहा था —

> यदा यदा हि धर्मस्य, ग्लानिर्भवति भारत।
> अभ्युत्थानमधर्मस्य, तदात्मान सृजाम्यहम्॥

साधारण बुद्धि से सोचें तो यह वाक्य अर्थवाद प्रतीत होता है, परन्तु यदि इसे पुनर्जन्म पर विश्वास रखने वाले एक परोक्षदर्शी कर्म-योगी का वाक्य समझ तो यह असाधारण आत्म-विश्वास का द्योतक है। विघ्न-बाधाये तो प्रत्येक मनुष्य के सामने आती हैं जिस में आत्म-विश्वास का अभाव है वह उन से डर कर मैदान से भाग जाता है परन्तु आत्म-विश्वासी मनुष्य पर्वत को मिट्टी का ढेर और समुद्र को नाला समझ कर पार कर जाता है। महापुरुषो की असाधारण सफलताओं का

रहस्य आत्म-विश्वास में ही सन्निहित है।

आत्म-विश्वास से शून्य व्यक्ति यदि किसी साधारण रोग में देर तक फसा रहे तो सोचता है कि बस मेरा यह रोग अन्तिम है। मैं इस में से नहीं निकल सकूंगा और सचमुच वह रोग बढ कर उसे ग्रस लेता है। इस के विपरीत आत्म-विश्वासी बडे से-बडे रोग का आक्रमण होने पर भी यह निश्चय रखता है कि वह उस से भी निकल जायगा और निकल भी जाता है। मृत्यु तो एक दिन सभी को आती है, परन्तु आत्म-विश्वासी मनुष्य उस अन्तिम पडाव तक हसता-हसता चला जाता है और आत्म विश्वास से रहित कायर व्यक्ति सारा रास्ता रोता हुआ गुजारता है। आत्म-विश्वास मनुष्य को वीर बनाता है।

—

षष्ठ अध्याय

दोषों का विश्लेषण

प्रथम प्रकरण

रूप-रेखा

व्यवहार की सुविधा के लिए मनुष्य को तीन भागों में बांटा गया है — १ शरीर, २ मन, ३ आत्मा। मोटे तौर पर कह सकते हैं कि मनुष्य के रोग भी तीन प्रकार के हैं — १ शारीरिक, २ मानसिक, ३ आध्यात्मिक। उन रोगों की

चिकित्सा के उपाय बताने के लिए शास्त्र भी तीन प्रकार के हैं — १ शारीरिक रोगों के सम्बन्ध में आयुर्वेद, यूनानी होम्योपैथी, ऐलोपैथी आदि विविध प्रणालियों के चिकित्सा-ग्रंथ २. मानसिक रोगों के लिए आधुनिक मनोविज्ञान और वस्तु-विज्ञान पर आश्रित ग्रंथ, ३. आध्यात्मिक रोगों के लिए धर्म-शास्त्र ।

सभी धर्म-शास्त्रों में विधि निषेध द्वारा मनुष्यों को क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए ? इन प्रश्नों के उत्तर विस्तार से दिए गए हैं । जाति, देश और परिस्थितियों के भेद से उन उत्तरों में गौण भेद हो सकते हैं, परन्तु मूलरूप से सभी धर्म-ग्रंथों के कर्तव्य सम्बन्धी उत्तर बिलकुल समान नहीं तो समानान्तर अवश्य हैं । हमारे धर्म-ग्रंथों मे वेदों से लेकर भगवद्गीता तक के आदेशों व उपदेशों की विचारधारा लगभग एक और अभिन्न है । उन का लक्ष्य एक यही है कि मनुष्य को सब प्रकार के दु:खों से मुक्त होने के साधन बतलाये जायें ।

वे सब आदेश और उपदेश शास्त्रों में उसी प्रकार सन्नि-हित हैं जैसे सागर में मोती । उन्हें वही पा सकता है जो समुद्र में गोता मारने की कला जानता हो और साहस भी रखता हो । साधारण व्यक्ति के लिए वे तब तक दुर्लभ हैं जब तक उन्हें समुद्रतल से ला कर आंखों के सामने न चुन दिया जाय । सब चिकित्सा-ग्रंथों का उद्देश्य यही होता है कि वे दु:ख के कारण भूत रोगों की निवृत्ति के उपायों को शास्त्रों की गहराई से निकाल कर सुगम और सुलभ बना दें । मेरे वर्तमान प्रयत्न

का उद्देश्य भी यही है कि विविध शास्त्रों में बिखरे हुए उन उपदेश रूपी मोतियों को खोज कर और सरल क्रम में ला कर जनता के सामने ऐसे ढग से रखा जाय कि आवश्यकता के समय प्रत्येक व्यक्ति उन से लाभ उठा सके।

आध्यात्मिक रोगों की श्रेणियां और उन का परस्पराश्रय

हम इस से पूर्व बतला आये है कि जैसे शारीरिक रोग वात, पित्त और कफ इन तीन शारीरिक दोषों से उत्पन्न हुए समझे जाते हैं, वैसे ही आध्यात्मिक रोग काम, क्रोध, लोभ और मोह इन चार दोषों से उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार दोष रूपी कारणों की दृष्टि से आध्यात्मिक रोगों को इन चार श्रेणियों मे बांटा जा सकता है —

१. कामजन्य रोग।
२ क्रोधजन्य रोग।
३ लोभजन्य रोग।
४ मोहजन्य रोग।

इस बात को प्रारम्भ में ही स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ये चारों श्रेणियां एक दूसरे से बिलकुल अलग-अलग चार डिब्बों की तरह बन्द नहीं हैं। यह न समझना चाहिए कि कुछ आध्यात्मिक रोग केवल काम से और कुछ केवल क्रोध से उत्पन्न होते हैं । शारीरिक दोषों की तरह कामादि दोष भी प्राय: निश्चित रूप में काम करते है। एक और बात भी ध्यान में रखनी चाहिए। प्रत्येक दोष का एक निर्दोष रूप भी है, उसे उस का सात्त्विक रूप कहना चाहिए। जैसे काम का

सात्त्विक रूप प्रेम है और क्रोध का सात्त्विक रूप मन्यु है। इन तथ्यों की विस्तृत चर्चा अपने-अपने प्रकरण में की जायगी परन्तु यहां इन का निर्देश करना इस कारण आवश्यक समझा है कि विचारों में किसी प्रकार की उलझन उत्पन्न न हो।

ये दोष एक दूसरे से किस प्रकार सम्बद्ध हैं और एक दूसरे को किस प्रकार प्रभावित करते हैं, इस का एक प्रसिद्ध शास्त्रीय दृष्टान्त भगवद्गीता में बतलाया गया है। भगवान् अर्जुन को आसक्ति के परिणाम समझाते हुए कहते हैं —

ध्यायतो विषयान्पुंसः, संगस्तेषूपजायते।
संगात्संजायते कामः, कामात्क्रोधोऽभिजायते॥
क्रोधाद्भवति संमोहः, संमोहात्स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात्प्रणश्यति॥
— २. ६२, ६३।

इन्द्रियों के विषयों का ध्यान करने से उन में आसक्ति हो जाती है, आसक्ति से कामवासना और वासना से क्रोध का जन्म होता है, क्रोध से संमोह उत्पन्न होता है और संमोह से स्मृति नष्ट हो जाती है। स्मृति के नाश से बुद्धि का नाश होता है, और बुद्धि के नाश से मनुष्य का नाश हो जाता है।

एक दृष्टान्त से गीता के इस कथन का आशय समझ में आ जायगा। 'क' नाम के किसी व्यक्ति का मन अपने पड़ोसी की पत्नी की ओर आकृष्ट हो गया। बढ़ते-बढ़ते वह आसक्ति की सीमा तक पहुंच गया। आसक्ति के बढ़ने पर उसने काम-

वासना का रूप धारण कर लिया। अब 'क्ष' के मन में पड़ौसी के प्रति क्रोध उत्पन्न होने लगा क्योंकि वही उसे अपनी वासना की पूर्ति में बाधक दिखाई देने लगा। क्रोध के बढ़ने से हृदय पर पर्दा सा छाने लगा, जिस से आगे पीछे की सब बातें भूल गईं और 'क्ष' ने अपने पड़ौसी को मार डाला। इस प्रकार दोषों की एक शृङ्खला बंध गई जिसका अन्तिम परिणाम यह हुआ कि 'क्ष' को फांसी पर चढ़ना पड़ा।

जैसे वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों के भड़क जाने से मनुष्य का रोग असाध्य सा हो जाता है, वैसे ही आध्यात्मिक दोषों का समुच्चय हो जाने पर मनुष्य का आध्यात्मिक रोग भी पराकाष्ठा तक पहुंच जाता है।

एक दोष दूसरे दोष को कैसे उत्पन्न कर देता है, इसे एक स्वयं देखे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करता हूं। हमारे घर में एक नौकर काम करता था। बहुत परिश्रमी और स्वामिभक्त था। ८ वर्ष तक उस की कोई शिकायत नहीं सुनी गई। एक बार दिवाली की रात को उस के साथी उसे जुए में खींच ले गए, अकस्मात् वह २००) जीत गया। राशि हाथ में आते ही वह यहां से भाग निकला और अपने घर चला गया। वे २००)उस के शत्रु बन गए। जब एक मास पीछे वह नौकरी पर लौट कर आया तो बिलकुल बदला हुआ था। वह चोरी करने लगा, उस की नीयत खराब हो गई, यहां तक कि उसे निकाल देना पड़ा। अन्त में वह शहर में ही एक दूसरी जगह चोरी में पकड़ा गया, और नम्बर १० वालों की गिनती में आ गया।

यह दृष्टान्त मैंने इस बात को स्पष्ट करने के लिए दिया है कि जैसे शरीर के रोग अकेले नहीं आते, एक दूसरे को निमन्त्रण देते हुए आते हैं, इसी प्रकार आध्यात्मिक रोगों की भी गति है। वे भी एक दूसरे के पोषक व प्रेरक होते हैं। यह पहचानना कुशल आध्यात्मिक चिकित्सक का काम है कि किस आध्यात्मिक रोगी मे किस दोष की मुख्यता है और उस का आश्रय लेकर अन्य कौन-कौन से दोष प्रविष्ट हो गए हैं ?

—

द्वितीय प्रकरण

'काम' रूपी दोष का विवेचन

अब यहां से आध्यात्मिक रोगों के कारण भूत चारों दोषों का पृथक्-पृथक् विवेचन प्रारम्भ होता है।

काम

दोषों के प्रकरण में 'काम' का विवेचन करने से पूर्व 'काम' शब्द के अनेक अर्थों की ओर ध्यान खींचना आवश्यक है।

'काम' शब्द का मौलिक अर्थ है कामना, अभिलाषा, चाह।

इस मूल अर्थ में 'काम' दोष नहीं है।

मनुष्य के लिए प्राप्त करने योग्य चार पदार्थों में से एक काम भी है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—यह चतुर्वर्ग है।

स्मृति में कहा है —

अकामस्य क्रिया काचिद्, दृश्यते नेह कर्हिचित् ।
काम्यो हि वेदाधिगमः, कर्मयोगश्च वैदिकः ।।

संसार में काम रहित क्रिया कोई नहीं दिखाई नही देती। वेदों का अध्ययन तथा वेद प्रतिपादित कर्म भी काम (इच्छा) पूर्वक ही किए जाते हैं। इन अर्थो में काम मनुष्य जीवन का अनिवार्य भाग है और उस की सफलता का मुख्य प्रेरक है।

'काम' शब्द का दूसरा अर्थ है 'पुन्सो विषयवासेनेच्छा' पुरुष की विषय-वासना पूरी करने की इच्छा — यही काम है। जब यही सीमा का अतिक्रमण कर ले तो रोगों और दुखों का कारण बन जाता है।

हम पहले बतला आए हैं कि प्रत्येक दोष का एक पूर्ण रूप है, जिसे हम उस का 'सात्विक रूप' कह सकते हैं। उस मे वह दोष नही होता। काम वासना का सात्विक रूप 'प्रेम' है।

यह सिद्ध करने के लिए कोई युक्ति देने की आवश्यकता नहीं कि पुरुष और स्त्री का परस्पर प्रेम जितना स्वाभाविक है, उतना ही संसार के लिए आवश्यक भी है। स्त्री और पुरुष के परस्पर प्रेमके अतिरिक्त प्रेम के अन्य भी कई रूप हैं। माता-पिता का जो सन्तान के प्रति प्रेम है वह 'वात्सल्य' कहलाता है। मनुष्य के ईश्वर, गुरु तथा पिता के प्रति प्रेम को भक्ति कहते हैं। किसी मनुष्य को कला से प्रेम है तो किसी को यात्रा से। ये सब प्रेम निर्दोष तो हैं ही, ये मात्रा बढ़ जाने पर भी खतरे की सीमा तक नहीं पहुंचते, परन्तु स्त्री और पुरुष का

परस्पर प्रेम ही एक ऐसा भाव है जो ठीक रास्ते को छोड़ कर और सीमा का अतिक्रमण कर के 'दोष' की कोटि में आ जाता है। उस से भी अधिक भयंकर दोष 'अनैसर्गिक विषय वासना' सम्बन्धी है जिस के अनेक रूप हैं।

सात्विक प्रेम संसार की स्थिति तथा कल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्य की तो व्यक्तिगत सुख समृद्धि का वह आधार ही है।

वही प्रेम जब औचित्य की सीमा को पार कर जाता है तो वह मनुष्य की शान्ति का सब से बड़ा शत्रु, समाज की साम्यावस्था का सब से बड़ा विघ्न और अनेक अपराधों का सब से बड़ा जन्मदाता बन जाता है। वह मार्ग भ्रष्ट राजस और तामस प्रेम ही दोष चतुष्टय का पहला 'दोष' है।

कारण

किसी दोष और उस से उत्पन्न होने वाले रोगों की चिकित्सा करने से पहले यह जानना आवश्यक है कि उस के कारण क्या हैं ? जो प्रेम केवल मनुष्य के ही नहीं अपितु प्राणिमात्र के निजी और सामाजिक जीवन का मुख्य आधार है, वह किन कारणों से विकृत होकर 'काम' रूपी दोष बन गया है ? इस प्रश्न का उत्तर मिल जाने पर उस का निवारण करना सुगम हो जायगा ।

कारणों के प्रकरण में (चतुर्थ अध्याय में) हम सामान्य रूप से उन कारणों का निर्देश कर आए हैं जो दोषों को उत्पन्न

और विकसित करने वाले हैं। वे सभी काम वासना को बढ़ाने में सहायक बन जाते है। उन में से वासनाओं को भड़काने का विशेष उत्तरदायित्व निम्नलिखित कारणो पर है —

छोटी आयु मे बच्चों के कोमल मन पर सब से पहला असर माता-पिता के जीवनों का पडता है। वासनाओं के सम्बन्ध मे गृहस्थ जीवन का बहुत अधिक महत्व है। असावधान माता-पिता यह समझ कर कि बच्चे अभी छोटे हैं, उन्हें इन बातों की क्या खबर है, गृहस्थियो के योग्य काम चेष्टाए उन के सामने करने मे संकोच नही करते, परिणाम बुरा होता है। वस्तुत: वही तो कच्ची आयु है जिस मे पड़े हुए संस्कार जीवन भर नही मिटते। बच्चे उस आयु मे जो कुचेष्टाए देखते है वे उन के जीवन पर अंकित हो जाती है और उन्हे बचपन से ही अनैसर्गिक कामचेष्टाओ मे प्रवृत्त कर देती हैं।

बच्चों पर दूसरे सस्कार सगति के पड़ते है। अड़ोस-पड़ोस के तथा पाठशाला के बिगड़े हुए बड़े बच्चे छोटे बच्चों के गुरू बन कर उन्हें कुटेव में डाल देते है।

छोटी आयु से हो कामवासनाओं की स्वच्छन्द वृद्धि का एक बड़ा कारण यह होता है कि माता-पिता और शिक्षक यह आवश्यक नहीं समझते कि बच्चों को असयम की हानियोंसे परिचित कराये। प्राय: ऐसा समझा जाता है कि बच्चों से दुर्व्यसन से होने वाली हानियों की चर्चा न केवल आवश्यक है, अभद्रतापूर्ण भी है। यह भ्रान्ति है। बच्चों को अच्छे मार्ग पर लाने के लिए अत्यन्त आवश्यक है कि उन्हें बुरे मार्ग

पर जाने के खतरों से परिचित कराया जाय। यह ध्यान अवश्य रखना चाहिए कि चरित्र सम्बन्धी शिक्षा देते हुए गुरु लोग अपनी भावना को शुद्ध और भाषा को पूरी तरह संयत रखें।

काम वासनाओं को उत्तेजित करने के विशेष कारणों में गन्दा साहित्य, तथा घटिया सिनेमा और नाटक है। ये बच्चों और नवयुवकों के लिए अत्यन्त हानिकारक हैं। आश्चर्य इस बात पर होता है कि सरकारी सेन्सर छोटी-छोटी राजनीतिक आपत्तियों के कारण गन्दे प्रकाशनों और चलचित्रों पर तो तुरन्त कैंची चला देता है परन्तु चरित्र पर असर डालने वाले देशी तथा विदेशी चित्रों का खुला प्रदर्शन होने देता है।

आहार-विहार से भी कामवासना की वृद्धि में पुष्कल सहायता मिलती है। मादक पदार्थों का प्रयोग रजोगुण और तमोगुण को पुष्टि देकर वासनाओं को बढ़ाने का कारण बन जाता है। ये तथा अन्य ऐसे ही कारण हैं जो मनुष्य के प्रेम जैसे पवित्र भाव को कलुषित कर देते हैं और मनुष्य जाति के क्लेश और पतन का निमित्त बन जाते हैं।

परिणाम

कामवासना की वृद्धि और संयम रहित प्रयोग से जो हानियां होती हैं वह दो प्रकार की हैं — १. व्यक्तिगत और २. सामाजिक। व्यक्तिगत हानियां भी दो प्रकार की होती हैं — एक शारीरिक और दूसरी मानसिक। ये हानियां रोगों के रूप में प्रकट होती हैं।

कामवासना मनुष्य को कैसे प्रभावित करती है, इस का

वर्णन भगवद्गीता में बहुत स्पष्टता से किया गया है । अर्जुन ने प्रश्न किया है —

अथ केन प्रयुक्तोऽयं, पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय, बलादिव नियोजितः ।।

हे वार्ष्णेय, यह मनुष्य अपनी इच्छा न रहते हुए भी मानो बलात्कार से पापाचरण किस की प्रेरणा से करता है ?

भगवान् ने उत्तर दिया है —

काम एष क्रोध एष, रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा, विद्धयेनमिह वैरिणम् ।।

रजोगुण से उत्पन्न होने वाले काम और क्रोध हैं जो सुगमता से तृप्त नहीं होते और पाप में प्रवृत्त करने के महान् कारण हैं, इन्हें मनुष्य के वैरी जानो ।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।।

जैसे अग्नि धुएं से, दर्पण मल से और गर्भ जेर से ढके रहते हैं, वैसे काम द्वारा ज्ञान ढक जाता है ।

आवृतं ज्ञानमेतेन, ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय, दुष्पूरेणानलेन च ।।

ज्ञान के इस नित्य वैरी और कठिनता से तृप्त होने वाले अग्नि के समान सर्वभक्षी काम ने मनुष्य के ज्ञान पर पर्दा डाल रखा है।

इन्द्रियाणि मनोबुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष, ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।।

इन्द्रिये मन और बुद्धि इस के निवास स्थान हैं । इन के द्वारा यह आत्मा को विमोहित कर लेता है।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ, नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं, ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।।

इस लिए हे अर्जुन! तुम सब से पहले इन्द्रियों को वश में कर के ज्ञान और विज्ञान को नष्ट करने वाले इस दुष्ट का सर्वनाश कर दो।

काम और क्रोध दोनों ही मनुष्य के भयानक शत्रु हैं, परन्तु उन में से काम अधिक भयानक है । क्रोध अपना वार कर के ठंडा पड़ सकता है परन्तु जब कामवासना एक वार भड़क उठे तो वह निरन्तर बढ़ती ही जाती है।

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूयएवाभिवर्धते ।।

कामवासना कभी उपभोग से शान्त नहीं होती । जैसे घृत

की आहुति देने से आग भड़क उठती है वैसे ही उपभोग से कामवासना मे अधिकाधिक वृद्धि होती है।

काम से क्रोध भी उत्पन्न होता है, मोह भी। देखा जाता है कि व्यक्तिगत हत्याओं में अधिक सख्या वासनाओं की प्रतिस्पर्धा और सघर्ष के कारण की जाने वाली हत्याओ की ही है। कामान्ध यह भी नहीं देखता कि वह जिस पर वार कर रहा है वह उस का प्रेमपात्र है या द्वेषपात्र। उस मे मित्र और शत्रु को पहचानने की शक्ति नही रहती और स्वय अपने हिताहित को भी नहीं सोच सकता। कामान्धता अनेक आत्महत्याओं को जन्म देती है। यही व्यामोह है। कामान्ध पुरुष ज्ञान (सांसारिक बुद्धि) और विज्ञान (पारमार्थिक बुद्धि) दोनों को खो देता है।

असंयत कामवासना के शारीरिक परिणाम भी बहुत भयंकर हैं। बचपन और उठती आयु मे बढा हुआ असयम, हस्त-मैथुनादि दोषों और उन से उत्पन्न होने वाले रोगों का कारण बनता है। यौवन मे यदि गृहस्थ स्त्री, पुरुषो ने संयम से काम न लिया तो स्वास्थ्य हानि, रोग, निर्बलता, क्षय आदिका शिकार बनना पड़ता है और यदि गृहस्थ की सीमाओं से बाहर जाकर दुराचार के बाजार में उतर गए तो फिर गिरावट और दुःखों की कोई सीमा नही। घर का सुख नष्ट हो जाता है, घर में थू-थू होती है और अन्त में उपदंश आदि भयानक रोगों से आक्रान्त होकर गन्दी नाली के कीड़ों का सा जीवन व्यतीत करना पड़ता है। वासनाओं की महामारी शारीरिक महामा-

रियों से अधिक घातक है, विज्ञान और कला में अत्यन्त उन्नत पश्चिम के देश इस चरित्र सम्बन्धी महामारी की चोट से नहीं बच सकते। कारण यह कि आज की वैज्ञानिक उन्नति वासनाओं को सन्तुष्ट करने के साधनों को उत्पन्न करने में लगी हुई है, सयम से उस का कोई वास्ता नहीं और यह नियम सर्वसम्मत और अटल है कि वासनाएं कभी उपभोग की सामग्री बढ़ने से शान्त नही होती, उन को शान्त करने का साधन उन का नाश करना ही है।

—

तृतीय प्रकरण

चिकित्सा

चिकित्सक का पहला काम यह है कि वह रोग का निदान करे। औषध-प्रयोग से पहले उसे निश्चय करना चाहिये कि उसे किस रोग का इलाज करना है? उसे यह भी जान लेना चाहिये कि रोगी में रोग कहां से आया और कैसे बढ़ा? शरीर के वैद्य को जिस सावधानता से चिकित्सा में प्रवृत्त होना चाहिये, आध्यात्मिक चिकित्सक को उस से कुछ अधिक सावधान होने की आवश्यकता है क्योंकि बिगड़ा हुआ शरीर फिर सुधर सकता है परन्तु बिगड़े हुए आन्तरिक स्वास्थ्य का सुधरना कभी-कभी बहुत कठिन हो जाता है।

मान लीजिये, कोई पिता अपने ऐसे नौजवान पुत्र को ले

कर आप के पास आता है, जो दिन रात उदास रहता है, जिस का शरीर निरन्तर सूखता जाता है और जिस के बारे में वैद्यों का यह मत है कि उसे कोई शारीरिक रोग नहीं, पिता आप से निवेदन करता है कि आप उस का इलाज करें।

आप का पहला काम यह होगा कि आप पिता से और उस के लड़के से यह जानने का यत्न करें कि लड़के की गिरती हुई शारीरिक और मानसिक शिथिलता का कारण इन दो में से क्या है? कोई चिन्ता है या विषयो में अति प्रसक्ति है? यदि चिन्ता है तो रोग मोहजन्य है, और यदि प्रसक्ति है तो रोग कामजन्य है । चरित्र के वैद्य को भी शरीर के वैद्य की भांति बहुत सवधानता से रोग को समझ कर उपाय का प्रयोग करना चाहिए । विपरीत प्रयोग से अति विपरीत परिणाम होने की सम्भावना है।

दो श्रेणियाँ

कामवासना के रोगी दो प्रकार के होते हैं । एक वे जो अज्ञानी हैं । वे अपनी दुरवस्था को जानते ही नहीं । इन्द्रियों के विषयों के पीछे आंख बन्द कर के भाग रहे हैं। सुन्दर रूप और मधुर स्वर तथा सम्भोगेच्छा के वशीभूत हो कर जिधर वृत्तियां खेंच कर ले जाती हैं, उधर चले जा रहे हैं। वे उन गढों को भी नहीं देखते जो उन के सामने मुह बाये पड़े हैं। उन की आंखें तब खुलती हैं जब वे गढ़े में गिर कर हाथ-पांव तोड़ बैठते हैं। तरह-तरह के रोग उन्हें घेर लेते हैं। ऐसे लोगों का अन्त प्रायः राजयक्ष्मा या उपदंश जैसे रोगों

से होता है।

दूसरे प्रकार के वे रोगी हैं, जो जानकार हैं। वे भले और बुरे को समझ सकते हैं, परन्तु विषयवासना के आवेग के वशीभूत होकर विवेक को खो देते हैं। 'मुनीनाञ्च मतिभ्रमः' अर्थात् कभी-कभी मुनि लोगों की बुद्धि भी काम के झोंकों से डांवाडोल हो जाती है। विश्वामित्रादि मुनियो के तपोभ्रंश इस तथ्य के उदाहरण हैं। अंग्रेज महाकवि लार्ड बायरन अपने समय का मूर्धन्य कवि माना जाता था। उसकी यह दशा थी कि वह दिन भर संकल्प करता था कि रात को कामवासना की पूर्ति के लिये नही जाऊंगा। अपने नौकर को आदेश भी दे देता था कि रात को मुझे घर से न निकलने देना, परन्तु जब जाने का समय आता तब संकल्प और नौकर दोनों को रौंद कर बाहिर निकल जाता था। ऐसे दृष्टान्तों को देख कर अर्जुन का भगवान् से किया हुआ निम्नलिखित प्रश्न सर्वथा स्वाभाविक ही प्रतीत होता है—

अथ केन प्रयुक्तोऽयं, पापं चरति पूरुषः।
जानन्नपि कौन्तेय, बलादिव नियोजितः॥

हे कृष्ण! ज्ञानी होता हुआ भी पुरुष किसकी शक्ति से प्रेरित होकर मानो बलात्कार द्वारा पाप करने में प्रवृत्त होता है? बायरन जैसे किसी कवि ने ही अपनी निर्बलताओं को देव के सिर मढ़ते हुए कहा है—

जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः,
जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।
केनापि देवेन हृदि स्थितेन,
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि ॥

मैं धर्म को जानता हूं परन्तु उस में प्रवृत्त नहीं हो सकता। अधर्म को जानता हूं परन्तु उस से निवृत्त नहीं हो सकता। मानो कोई देव मेरे दिल में बैठ कर मुझे अपने इशारे पर नचा रहा है।

ये दोनों श्रेणियों के कामरोगी अपने लिये और अन्यों के लिये भी बहुत हानिकारक हैं, परन्तु उन में से भी दूसरी श्रेणी के रोगी बहुत भयानक हैं क्योंकि उनका दृष्टान्त साधारण जनों के जीवनो को अधिक मात्रा से प्रभावित करता है।

निवृत्ति के उपाय

रोग का निदान हो चुकने पर उसकी निवृत्ति के लिये उपाय करने का समय आता है, जिसे औषध प्रयोग कह सकते हैं।

छोटी आयु में

पहले हम छोटी आयु के बालकों और नवयुवकों के सम्बन्ध मे कहेंगे।

यदि उन के रोग की दशा तीव्र है तो उसका प्रारम्भिक उपाय एक दम होना चाहिये। मान लीजिये कि कोई बालक कुसंगति में पड़कर अर्थात् घर या पड़ोस मे पड़े कुसंस्कारों के

कारण हस्त मैथुनादि दोषों मे फंस कर स्वास्थ्य और मानसिक शान्तिको खो रहा है। उसकी दशा शोचनीय है तो उसकी रक्षा का पहला उपाय यह होना चाहिये कि कुछ समय के लिये उसके वातावरण को बदल दिया जाय। पिता या गुरू उसे कुटेव की हानियों से अवगत करायें और उसके मेल-मिलाप और यदि आवश्यक हो तो निवास के स्थान मे परिवर्तन कर दें। उसे यथा-सम्भव अपनी अथवा किसी योग्य और विश्वास पात्र शिक्षक की दृष्टि के सामने रखें, ताकि रोगी को स्वस्थ वातावरण में रहने का सुअवसर मिले। उससे एक बड़ा लाभ यह होगा कि वह स्वयं समझने लगेगा कि बुरी आदतों से मुक्त हो कर स्वास्थ्य और मानसिक शक्ति दोनों मिल सकते हैं। यह ध्यान रहे कि यदि अत्यन्त आवश्यक न हो तो इस कार्य मे शारीरिक दण्ड या अन्य कठोर साधनो का प्रयोग न किया जाय, अपितु समझा बुझाकर प्रेम से ही सब उपाय करने चाहियें क्योंकि बल प्रयोग से कभी-कभी उग्र प्रतिक्रिया भी उत्पन्न हो जाती है।

किशोर और यौवनावस्था मे असंयम को रोकने के लिये शारीरिक व्यायाम भी अत्यन्त उपयोगी होता है। व्यायाम से थका हुआ शरीर विश्राम चाहता है जिससे उपभोग की प्रवृत्ति कम हो जाती है। भोजन एसा होना चाहिये जो ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिये उपयुक्त हो। उत्तेजक तथा मादक द्रव्यों का सेवन सर्वथा बन्द कर देना चाहिये। जल चिकित्सा भी उप-योगी सिद्ध होती है। दिन रात का कार्यक्रम ऐसा बनाना चाहिये कि बालक का मन लगा रहे। नित्यकर्म, व्यायाम, अध्य-

यन और खेल-कूद का समय विभाग बुद्धि पूर्वक बनाना चाहिये ताकि कुप्रवृत्तियों के लिये उसे समय ही न मिले।

—

चतुर्थ प्रकरण

युवावस्था में

काम वासना से उत्पन्न होने वाले रोगो की दृष्टि से युवावस्था सब से अधिक भयंकर है। इस अवस्था में शरीर में छोटी-मोटी ठोकरों को सहने की शक्ति होती है, यौवन की मस्ती प्रसिद्ध ही है और अत्यन्त विषयभोग से होने वाली हानियों का स्वय अनुभव नही होना। मनुष्य इन्द्रियो के पीछे सरपट भागा चला जाता है। जब एक बार जवानी मे मनुष्य वासना के पीछे भागता तो फिर भागा चला जाता है। प्राय: उपदेश और परामर्श उसे रोकने मे असमर्थ हो जाते हैं। ऐसे लोग आध्यात्मिक चिकित्सक के पास प्राय: दो दशाओं में जाते हैं — या तो कामसेवा में धन-दौलत लुटा बैठे हों अथवा अति प्रसंग-जनित रोगो ने ग्रस लिया हो। निर्धनता, उपदश और क्षय रोग — ये यौवनावस्था में अत्यन्त असंयम के फल होते हैं।

वह व्यक्ति भाग्यशाली है जो यौवन मे असंयम के अन्तिम फलों के आगमन से पहले ही बच जाय। ऐसे दृष्टान्तों की कमी नही है। एक बड़े धनी व्यक्ति का पुत्र कुसंग के प्रभाव

से कुमार्ग पर पड़ गया। पिता पुराने ढंग के धर्म परायण व्यापारी थे, अत्यन्त सादगी से रहते तथा धार्मिक कार्यों मे सहायता दिया करते थे। लड़का फूलों के सेज पर पला था, कुछ पढ़ लिख भी गया। वह युवावस्था मे पहुंच कर उस लीक पर पड़ गया जिस के बारे में नीतिकार ने कहा है —

यौवनं धनसम्पत्तिः, प्रभुत्वमविवेकता।
एकैकमप्यनर्थाय, किमु यत्र चतुष्टयम् ॥

जवानी, धनसम्पत्ति, हुकूमत और नासमझी — इन में से एक-एक भी अनर्थ के लिए काफी हैं — यदि सब एकत्र हों तो कहना ही क्या है ? तब तो अनर्थों का ढेर लग जाता है। उस अवस्था में बड़ों का समझाना या परामर्श देना भी बहुत सफल नही होता।

उस समय आंखे खोलने का कठिन काम दो का है—पत्नी का और मित्र का। काम कठिन है, परन्तु आध्यात्मिक रोगी की परिचर्या का काम आसान हो भी कैसे सकता है। पत्नी और मित्र दोनों प्रेम के प्रतीक हैं वे ही यौवनान्ध व्यक्ति को ठीक रास्ते पर ला सकते हैं। मुख्य कार्य ऐसे व्यक्ति की आखें खोलने का है। प्रेम के अतिरिक्त कोई शक्ति यौवनान्ध की आंखें नहीं खोल सकती।

पिता की मृत्यु हो जाने पर उस के सामने दो मार्ग खुले थे, या तो विषयों के पीछे भाग कर बरबाद हो जाता या सभल जाता। उस समय उस की शिक्षा और पिता के मित्रों

के सदुपदेश काम आये। वह सभल गया। परिणाम यह हुआ कि प्रौढ़ावस्था मे वह दिल्ली का भामाशाह बन गया। शायद दिल्ली का कोई भला काम हो जिस मे उसने दान न दिया हो।

प्रश्न हो सकता है कि यदि कोई युवती वासनाओं के चक्र में आ जाय तो क्या उपाय है? आज-कल के पाश्चात्य सभ्यता के बढ़ते हुए प्रभाव में यह समस्या वास्तविक है। इस का उत्तर यह है कि उस का उपाय भी प्रेम ही है। भेद इतना ही है कि यदि स्त्री कुमार्ग पर जा रही हो तो उसे भी पिता भाई या पति का सच्चा और विशुद्ध प्रेम ही सन्मार्ग पर ला सकता है।

पत्नी के प्रेम द्वारा पति का और सच्चे मित्र द्वारा मित्र का उद्धार केवल कवियों और उपन्यासकारों की कल्पना का ही विषय नहीं है, उस के अनेक प्रसिद्ध ऐतिहासिक दृष्टान्त विद्यमान हैं परन्तु यह बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिये कि पत्नी या मित्र वासनाओ के प्रवाह में बहते हुए व्यक्ति की आँखें खोल सकते हैं, वे उस में यह भावना उत्पन्न कर सकते हैं कि जिस मार्ग पर मैं चल रहा हूं वह ठीक नहीं, गढ़े में से निकलना उस व्यक्ति के अपने यत्न से ही होगा।

वासनाओं का जाल बहुत दृढ़ होता है। एक बार उस में फंस कर निकलना कठिन हो जाता है। उस समय जाल मे से निकलने की अभिलाषा रखने वाले को क्या उपाय काम में लाना चाहिए — इस का उपदेश भी अर्जुन के एक प्रश्न के उत्तर में भगवान् कृष्ण ने भगवद्गीता मे दिया है। अर्जुन ने पूछा है—

चञ्चलं हि मनः कृष्ण, प्रमाथि बलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये, वायोरिव सुदुष्करम् ।

हे कृष्ण ! इस मन को जीतना बहुत ही कठिन है। यह बहुत ही दृढ़ और बलवान् है। मुझे प्रतीत होता है कि इसको काबू में लाना वायु को बांधने से भी अधिक कठिन है।

कृष्ण ने उत्तर दिया है—

असंशयं महाबाहो, मनो दुर्निग्रहं चलम् ।
अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते ॥

हे अर्जुन ! इस मे सन्देह नही कि मन बहुत चञ्चल है और उस को वश मे लाना कठिन है, उसे अभ्यास और वैराग्य इन दो साधनों से वश मे लाया जा सकता है।

वैराग्य शब्द से यहां संसार का सर्वथा त्याग अभिप्रेत नहीं है। यहां उस का अभिप्राय यह है कि जो विषय उसे अपनी ओर आकृष्ट कर रहा है, उस की ओर यदि घृणा नही तो न्यून से न्यून अरुचि उत्पन्न हो जाय उस की अवास्तविकता मन में समा जाय। मान लीजिए किसी पुरुष को स्त्री का रूप या स्वर आकृष्ट करता है, जिस से प्रेरित हो कर वह अपनी स्त्री से विमुख हो जाता है और पर स्त्री के मोह में फंस जाता है। उस की पत्नी यदि समझदार है तो वह अपने प्रेम से, समझदारी से और यदि आवश्यकता हो तो थोड़े बहुत अनुशासन से उस के मन में यह भावना उत्पन्न कर सकती है कि अपनी स्त्री

की उपेक्षा और पर स्त्री की संगति बुरी है परन्तु उसका पूरी तरह उद्धार इतने से नहीं हो सकता। उस व्यक्ति को इस विषय पर निरन्तर विचार करना होगा कि पर स्त्री का संग कभी सुखदायी नही हो सकता। परिणाम में वह दुःखदायी ही होगा। उसे यत्न पूर्वक मन मे इस विचार को जमाना होगा कि वह जिस रूप या स्वर के पीछे अपने गृहस्थ सुख का नाश कर रहा है, वह बहुत ही अस्थिर है और छलपूर्ण है। यही वैराग्य है, परन्तु केवल एक ही बार के प्रयत्न से उसे पूरी सफलता नही मिल सकती। माया का जाल एक झटके से नहीं टूटता। उसे कई झटके देने पड़ते हैं, तब उस के बन्धन ढीले होते हैं। वह अभ्यास कहलाता है। यदि मन में बुरे काम को छोड़ने की अभिलाषा उत्पन्न हो गई है तो समझ लो कि भलाई का बीज बोया गया, वह अकुरित होकर लहलहायेगा तो तभी जब उसे वैराग्य और अभ्यास के जल से सीचा जायगा।

अभ्यास और वैराग्य की सहायता के लिये आवश्यक है कि आहार-विहार और रहन-सहन मे परिवर्तन किया जाय। उत्तेजक और मादक द्रव्यो का सेवन सर्वथा त्याग देना चाहिये। बुरे चित्र देखना, गन्दी सगति में जाना और कुपथ पर ले जाने वाले मित्रों का परित्याग आवश्यक है। इस प्रकार अन्धकार के वातावरण मे जाने के लिए थोडा सा अभ्यास आवश्यक है, जिस की पूर्ति के लिये ईश्वरविश्वास परम सहायक होता है।

कामवासना से उत्पन्न होने वाली बुराइयों में पर स्त्री ससर्ग जितना बुरा है, अपनी स्त्री से अतिसंगम भी उस से कम

हानिकारक नहीं। वह भी शरीर और मन की शक्तियों का शोषण कर देता है। उस से पुरुष और स्त्री दोनों को समान रूप से हानि पहुंचती है। उस से बचने के लिए भी विवेक, अभ्यास और वैराग्य की ही सहायता लेनी चाहिये।

वृद्धावस्था में

कामवासना प्रौढ़ावस्था तक ही शान्त नही हो जाती। कुछ लोगों में वह वृद्धावस्था तक पीछा करती है। 'अगानि शिथिलायन्ते, तृष्णैका तरुणायते', शरीर ज्यों-ज्यों शिथिल होता जाता है, ऐसे लोगों की विषय वासना त्यों-त्यों प्रबल होती जाती है। वृद्धावस्था में बढ़ी हुई वासनाएं मनुष्य के लिए बहुत ही अधिक दुःखदायी होती हैं। अनेक अत्यन्त घातक शारीरिक रोग उसी से उत्पन्न होते हैं। आंखों के विषय में अतिप्रसक्ति आंखों की ज्योति को नष्ट कर देती है, जिह्वा के रस में लोलुपता से संग्रहणी आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं, अति जागरण से शक्तियों का शीघ्र नाश होने लगता है और विषयवासना उत्पन्न तो होती है परन्तु उस की पूर्ति की शक्ति नहीं रहती, इस कारण मूत्रेन्द्रिय के अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। मादक और उत्तेजक द्रव्यों का सेवन उन रोगों को और अधिक बढ़ा देता है। वृद्धों की ऐसी प्रवृत्तियों को रोकना उनके अपने ही हाथ में है। उपाय वही तीन है — विवेक, वैराग्य और अभ्यास।

—

सप्तम अध्याय

क्रोध

प्रथम प्रकरण

'क्रोध' का विवेचन

अप्रिय बात को देख सुन या अनुभव करके मनुष्य के मन मे जो विक्षोभ उत्पन्न होता है उसे 'क्रोध' कहते हैं।

जैसे कामवासना का सात्विक रूप प्रेम है, इसी प्रकार क्रोध का सात्विक रूप मन्यु है। किसी बुरी वस्तु को देख, सुन या अनुभव कर के मन में जो प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, वह मन्यु है। उसे मन्यु तभी कह सकते हैं जब वह संयत हो। संयत का लक्षण यह है कि रक्त में गर्मी उत्पन्न न हो, आंखों में लाली न आये, विवेक क्षीण न हो।

संयत मन्यु मनुष्य का एक आवश्यक गुण है। वह चेतनता का प्रमाण है। जिस मनुष्य में बुरी वस्तु के प्रति प्रतिकूल प्रतिक्रिया उत्पन्न नहीं होती, वह वृक्ष वनस्पतियों से भी गया गुजरा है। वनस्पतियों पर प्रत्येक अनुकूल अथवा प्रतिकूल घटना प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। जिस मनुष्य मे वह भी न हो, वह ईंट-पत्थर के समान ही है। तभी तो परमात्मा से 'मन्युरसि मन्यु मयि देहि' हे परमात्मा आप मन्युस्वरूप हो, मुझे मन्यु प्रदान करो— यह प्रार्थना की जाती है।

मन्यु का एक ऐतिहासिक दृष्टान्त है। जब वाल्मीकि मुनि ने राम की आज्ञा से लक्ष्मण द्वारा वन में सीता को अकेला

छोड़ा हुआ देखा और उस का आक्रन्दन सुना तो उन्होंने अपना विक्षोभ व्यक्त करने के लिये जिन भावों को प्रकाशित किया, उन्हें कवि ने निम्न लिखित शब्दों में अभिव्यक्त किया है—

उत्खातलोकत्रयकण्टकेऽपि,
सत्यप्रतिज्ञेऽप्यविकत्थनेऽपि ।
त्वाम्प्रत्यकास्मात्कलुषप्रवृत्ता-
वस्त्येव मन्युर्भरताग्रजे मे ॥

यद्यपि भरताग्रज (राम) ने तीनों लोकों के कण्टक (रावण) को उखाड़ दिया है, वह प्रतिज्ञा का सच्चा और विनयशील है, तो भी तेरे साथ उसने जो कठोर व्यवहार किया है, उस के कारण मुझे उस पर 'मन्यु' है । यदि क्रोध होता तो उसकी प्रतिक्रिया शायद यह होती कि ऋषि कमंडलु का जल अंजलि में लेकर दुर्वासा की तरह शाप दे डालते या 'रामायण' के स्थान पर 'रामाधिक्षेप' नाम का काव्य लिख डालते । परन्तु ऋषि का मन्यु किस रूप में प्रकट हुआ ! वे सीता को अपने आश्रम में ले गये, पुत्री की तरह रखा, उसके बच्चों का पालन और शिक्षण किया और अन्त में रामायण लिख कर रामचरित की अच्छी और बुरी सब घटनाओं को छन्दोबद्ध कर दिया । यह मन्यु का सात्त्विक रूप है। इस रूप में मन्यु मनुष्य का गुण है ।

अब क्रोध का दृष्टान्त देखिये । एक बार राम देवदूत से

एकान्त मे बातचीत कर रहे थे। राम की आज्ञा से लक्ष्मण द्वार पर खड़े थे कि कोई अन्दर न जाने पाये। इतने मे मुनि दुर्वासा आ पहुचे। दुर्वासा का क्रोध प्रसिद्ध था। उन्हों ने राम से तत्काल मिलने का आग्रह किया। भाई के आज्ञाकारी लक्ष्मण ने उन्हें अन्दर जाने से रोका। इस पर क्रोध में आकर दुर्वासा ने कहा —

तच्छ्रुत्वा ऋषिशार्दूल:, क्रोधेन कलुषीकृत: ।
उवाच लक्ष्मणं वाक्यं, निर्दहन्निव चक्षुषा ॥
अस्मिन्क्षणे मां सौमित्रे, रामाय प्रतिवेदय ।
अन्यथा त्वां पुर चैव, शपिष्ये राघवं तथा ॥
भरतं चैव सौमित्रे, युष्माकं या च सन्तति: ।
न हि शक्ष्याम्यहं भूयो, मन्यु धारयितु हृदि ॥

यह क्रोध का दृष्टान्त है। मन्यु और क्रोध में यही भेद है कि जहाँ किसी प्रतिकूल वस्तु अथवा बात से उत्पन्न होने वाली भावनायें सयमित रहें, वह मन्यु और जहा वह असयमित हो जायें, वहा क्रोध है। —

द्वितीय प्रकरण

निदान

क्रोध की पहिचान बहुत सरल है। काम, लोभ और मोह चेहरे के पर्दे के नीचे छुपाये जा सकते हैं, परन्तु क्रोध दस पर्दों को फाड़ कर भी प्रकट हो जाता है। क्रोध में आये हुए मनुष्य

की आंखें लाल हो जाती हैं। दुर्वासा को जब क्रोध आया तब उसकी आंखें जलने लगीं। आवाज मे कर्कशता आ जाती है। उस की ज्ञानेन्द्रियां ठीक काम करना छोड़ देती हैं। रुधिर की गति तीव्र हो जाती है और हृदय मस्तक पर हावी हो जाता है। ये क्रोध के प्रत्यक्ष लक्षण हैं।

बहुत गहरा व्यक्ति क्रोध के चिन्हों को कुछ समय तक छुपा सकता है। वह चुप रह कर वाणी की कर्कशता को प्रकट होने से बचा सकता है, हाथ की गति को रोक सकता है, परन्तु आंखें और मस्तिष्क के विकारो को नही दबा सकता। प्रायः राजनीतिज्ञ लोग अपने भावों को छुपाने में बहुत चतुर होते है, परन्तु चतुर निरीक्षक उन के रङ्ग-ढङ्ग और वाक्यों से यह परिणाम निकाल ही लेते हैं कि वे किसी बात से प्रसन्न हैं या कुपित। सामान्य रूप से क्रोध मक्कारी की दीवार को भी तोड़ देता है और मनुष्य की गतिविधि को बदल देता है। नीतिकार ने क्रोध के मुह से कहलवाया है—

अन्धीकरोमि भुवनं बधिरीकरोमि।

मैं संसार को अन्धा और बहरा कर देता हूं। क्रोध से विक्षुब्ध मनुष्य को क्रोधान्ध कहा जाता है। वह न ठीक देखता है, न सुनता है। जब मनुष्य की यह दशा हो तब उसे पूर्ण रूप से क्रोध का रोगी मानना चाहिये।

परिणाम

जब क्रोध से मनुष्य के नेत्र और कान ठीक काम करना

छोड़ देते है, तब प्रायः उस का विवेक का द्वार बन्द हो जाता है और वाणी का द्वार खुल जाता है। क्रोधित मनुष्य बकने लगता है। होश की दशा में जो बात उसके मुह मे नहीं आ सकती थी, क्रोध की दशा में वह धारा बन कर बहने लगती है। जो मनुष्य स्वाभाविक दशा मे मिष्टभाषी हैं, वह क्रोध के आवेश में कठोर शब्दों का प्रयोग करने लगता है। क्रोध के आवेश में आकर धमकी और गाली देना तो साधारण बात है।

विवेकशून्य कठोर भाषा के प्रयोग की हानियों को कौन नही जानता ? एक कवि ने जिह्वा और दांतों के विवाद के रूप में उसका वर्णन किया है —

दन्ता वदन्ति जिह्वे त्वां दशामः किं करिष्यसि ।
एकमेव वचो वच्मि सर्वे यूयं पतिष्यथ ॥

दांत जीभ से कहते हैं कि यदि हम तुझे काट लें तो तू क्या करेगी ? वह उत्तर देती है कि मै एक बात ऐसी कह दूंगी कि दूसरा आदमी डण्डा मार कर तुम सब को तोड कर रख देगा। यह है क्रोध से मार्गभ्रष्ट हुई जिह्वा की शक्ति। महाभारत से विदित होता है कि महाभारत संग्राम का सूत्रपात दुर्योधन के उस क्रोध से हुआ जो उस के मन में द्रौपदी द्वारा इन्द्रप्रस्थ मे "अन्धे का बेटा अन्धा" ये शब्द कहे जाने से उत्पन्न हुआ था।

क्रोध यदि भड़क उठे तो झगड़े और लड़ाई के रूप में

परिणत हो जाता है, जिसका परिणाम कभी-कभी दोनों पक्षों का सर्वनाश होता है।

क्रोध कई रूपों में प्रकट होता है।

यदि वह वाणी द्वारा प्रकट हो गया तो धमकी और गाली गलौज का रूप ले लेता है। वही बढ़ते-बढ़ते मारपीट और हत्या के रूप में भी परिणत हो जाता है।

यदि वह किसी कारण से तत्काल न प्रकट हुआ तो वह ईर्ष्या और बदले की भावना का गम्भीर रूप धारण कर के और भी अधिक भयङ्कर हो जाता है। ईर्ष्या की आग का असर ईर्ष्या करने वाले पर अधिक होता है और उस के पात्र पर कम। वह आग है जो पहले ही दियासलाई को जला देती है, आगे पहुंचे या न पहुंचे यह सन्दिग्ध है।

बदले की भावना अधिक भयङ्कर है, क्योंकि वह न केवल क्रोधी और क्रोधपात्र दोनों को जलाने की शक्ति रखती है, कभी-कभी परिवारों और वंशों में फैल कर व्यापी विनाश का कारण बन जाती है।

ईर्ष्या मनुष्य की निर्बलता का चिह्न है। बेकन ने लिखा है —

A man that hath no virtue in himself envies virtue to others.

जिस मनुष्य मे स्वयं गुण नहीं है, वह दूसरे के गुण से ईर्ष्या करता है। कंगाल धनी से, बदनाम यशस्वी से और मूर्ख विद्वान् से ईर्ष्या करता है। ईर्ष्या की हेयता का इससे अधिक क्या

प्रमाण हो सकता है कि ईर्ष्यालु व्यक्ति दूसरे का तो कुछ बिगाड़ नहीं सकता, अपने आप को ही जलाता है।

बदला दुतर्फा वार करता है। जिससे बदला लिया जाय वह तो दुःख पाता ही है बदला लेने वाले के मन को भी शांति नही मिलती। पुराणो मे बतलाया है कि अपने पिता के अपमान का बदला लेने के लिये परशुराम ने २१ बार पृथ्वीभर के क्षत्रियों का नाश किया, परन्तु परिणाम क्या हुआ ? परशुराम स्वय कभी सन्तुष्ट न रहे। क्षत्रियों का सर्वनाश करने का प्रयत्न २१ बार करने पर भी क्षत्रिय वंश नष्ट न हुआ और अन्त मे उन्हे एक क्षत्रिय के सामने सिर झुकाना पड़ा।

बदले के प्रसिद्ध उपन्यास 'कौण्ट ऑफ् मौण्टिक्रिस्टो' के नायक मौण्टिक्रिस्टो को अपने सब शत्रुओं से भयङ्कर बदला लेने के पश्चात् स्वीकार करना पड़ा कि अपराधी से बदला लेना भगवान् का काम है, मनुष्य का नही। बदला लेकर मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता, क्योंकि बदला लेने में जो घोर कर्म करने पड़ते हैं, वे स्वयं पाप हैं। वे आत्मा को कलुषित और ग्लानि से भरा हुआ छोड़ देते हैं।

जो मनुष्य बदला लेता है, वह न केवल ससार के न्याय का बाधक है, परमात्मा के न्याय मे भी बाधा डालता है। किसी अपराधी को दण्ड देने के लिये क्रोध मे आकर हम भी अपराध करें तो हम स्वयं दण्ड के भागी बन जायेंगे।

क्रोध के आवेग में चलाई हुई तलवार ठिकाने पर नहीं लगती। क्रोधाविष्ट माता, पिता या गुरु यदि बच्चे को मारते-

पीटते हैं तो उससे बच्चे का सुधार नहीं होता, बिगाड़ ही होता है। जो मनुष्य गुस्से में आकर पड़ोसी के घर को आग लगाता है, उसका अपना घर भी नहीं बच सकता। क्रोध मनुष्य का शरीर में रहने वाला महान् शत्रु है। वह न केवल क्रोध करने वाले व्यक्ति की अपनी शक्ति का नाश करता है, कुलों और देशों तक को तबाह कर देता है।

—

तृतीय प्रकरण

महात्मा बुद्ध का उपदेश

क्रोध की चिकित्सा के सम्बन्ध में विशेष ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व यह अत्यन्त आवश्यक है कि क्रोध के स्वरूप तथा परिणामों पर गम्भीर चिन्तन किया जाय क्योंकि क्रोध से बचने का सर्वप्रधान तरीका यह है कि मनुष्य उसके दोषों को पूरी तरह स्वीकार कर ले। हृदय से अनुभव करने लगे कि क्रोध उसका शरीर में बैठा हुआ शत्रु है। इस प्रयोजन से प्रत्येक मनुष्य के लिये धम्मपद के क्रोधवर्ग का अनुशीलन बहुत उपयोगी है। हम यहां उस के कुछ श्लोकों के अनुवाद सहित संस्कृत रूपान्तर देते हैं—

क्रोधं जह्यात्, विप्रजह्यात् मानम्,
संयोजनं सर्वमतिक्रमेत।
तं नाम रूपयो रसज्यमानम्,
अकिंचनं नाऽनुपतन्ति दुःखानि॥

क्रोध को छोड़े, अभिमान का त्याग करे, सारे बन्धनों से पार हो जावे और नाम रूप में आसक्ति रहित हो कर कर्म करे, ऐसे अपरिग्रही मनुष्य को दुःख नहीं सताते।

यो वै उत्पतितं क्रोधं, रथं भ्रान्तमिव धारयेत्।
तमहं सारथिं ब्रवीमि, रश्मिग्राह इतरो जनः॥

जो बढ़े हुए क्रोध को रथ की तरह थाम ले, उसे मैं सारथि कहता हूं, दूसरे लोग लगाम पकड़ने वाले मात्र हैं।

अक्रोधेन जयेत्क्रोधम्, असाधुं साधुना जयेत्।
जयेत् कदर्यं दानेन, सत्येनालीकवादिनम्॥

अक्रोध से क्रोध को जीते, बुरे को भलाई से जीते, कृपण को दान से जीते और झूठ बोलने वाले को सत्य से जीते।

सत्यं वदेत् न क्रुध्येत्, दद्यादल्पेऽपि याचितः।
एतैस्त्रिभिः स्थानैः, गच्छेद् देवानामन्तिके॥

सदा सत्य बोले, कभी क्रोध न करे और थोड़ा भी मांगने पर दान दे तो देवताओं की श्रेणी में गिना जाता है।

कायप्रकोपं रक्षेत्, कायेन संवृतः स्यात्।
कायदुश्चरितं हित्वा, कायेन सुचरितं चरेत्॥

वचः प्रकोपं रक्षेत्, वाचा संवृतः स्यात् ।
वचो दुश्चरितं हित्वा, वाचा सुचरितं चरेत् ।।
मनः प्रकोप रक्षेद्, मनसा संवृतः स्यात् ।
मनो दुश्चरितं हित्वा, मनसा सुचरितं चरेत् ।।

मनुष्य काम, वाणी और मन को विक्षोभ से बचाये, उन्हें संयम मे रखे, उन से बुरे काम न करे और अच्छे कार्य करे।

महात्मा बुद्ध के इन उपदेश-वाक्यों का प्रत्येक ऐसे मनुष्य को चिन्तन और आचरण करना चाहिये जो अच्छा जीवन व्यतीत करना चाहता है। इन उपदेशों की आधार शिला सत्य और अक्रोध है।

अहिंसा को सभी धर्मों में परम धर्म माना गया है। अन्य प्राणियों को दुःख देने का नाम हिंसा है, उस के विपरीत अहिंसा कहलाती है। कोई मनुष्य अन्य प्राणियों को प्रायः दो कारणों से पीड़ा पहुंचाता है — क्रोध से या लोभ से। संसार भर मे अशान्ति का साम्राज्य है। सब देश एक दूसरे के शत्रु बने हुए हैं, संहारक शस्त्रास्त्रों के बोझ के नीचे जनता दबी जा रही है। इन सब संकटों के दो ही आधार हैं— लोभ और क्रोध। इन में से लोभ की अपेक्षा क्रोध अधिक उग्र है। इस विषय में भी धम्मपद में महात्मा बुद्ध के जो उपदेश सगृहीत हैं, वे अनुशील-नीय हैं। कहा है —

अक्रोशीत् मां अवधीत् मां, अजैषीत् मां अहार्षीत् मे ।
ये च तत् उपनह्यन्ति, तेषां वैरन्न शाम्यति ।।

मुझे गाली दी, मुझे मारा, मुझे हरा दिया, मेरा माल लूट लिया इस प्रकार सोच कर जो वैर बांधते हैं, उन का वैर कभी शान्त नही होता।

अक्रोशीत् मा अवधीत् मां,अजैषीत् मां अहार्षीत् मे।
य च तत् नोपनह्यन्ति, वैरं तेषूपशाम्यति॥

जो लोग मुझे गाली दी, मुझे मारा, मुझे जीत लिया या हर लिया — ऐसा गाठ नहीं बाधते उन के वैर शान्त हो जाते हैं।

न हि वैरेण वैराणि, शाम्यन्तीह कदाचन।
अवैरेण च शाम्यन्ति, एष धर्मः सनातनः॥

संसार मे वैर से वैर कभी शान्त नही होते। वैर छोड़ने से ही वैर शान्त होते हैं — यह सनातन धर्म है।

न तेन आर्यो भवति, येन प्राणानि हिसति।
अहिंसया सर्वप्राणानां, आर्य इति प्रोच्यते॥

प्राणियों की हिंसा करने वाला आर्य नहीं कहलाता। आर्य वह कहलाता है, जो प्राणियों की हिसा न करे।

'अहिंसा परमोधर्मः', 'क्रोधो हि परमो रिपुः' इत्यादि शास्त्र वाक्यों का यही अभिप्राय है।

—

चतुर्थ प्रकरण

चिकित्सा

१. विवेक— चिकित्सा शास्त्र में कई रोग असाध्य समझे जाते थे परन्तु यह अच्छी बात है कि क्रोध को कभी असाध्य नही माना गया। यह अनुभवसिद्ध सत्य है कि यदि मनुष्य दृढ़ता और निरन्तरता से यत्न करे तो क्रोध को वश में कर सकता है। बहुत से लोग जो बचपन में अत्यन्त क्रोधी स्वभाव के प्रतीत होते थे, जवानी मे सौम्य और प्रोढ़ावस्था मे शांति के अवतार बन गये। यदि विवेक से काम लिया जाय तो क्रोध को रोकना और उत्पन्न होने पर उसे दबा देना कठिन नहीं है।

इसका एक विशेष कारण यह है कि प्रत्येक मनुष्य क्रोध की बुराइयो को बहुत सुगमता से समझ जाता है। एक छोटे से बच्चे को क्रोध के आवेश में आकर उसकी मां बहुत अधिक पीट देती है तो बच्चा एक दम समझ लेता है कि क्रोध बहुत बुरी बला है। मां-बाप बच्चों को कई बार धमकाते हुये कहते हैं कि 'देख मुझे गुस्सा मत दिला, नहीं तो मार-मार कर चमडी उधेड़ दूंगा।' ऐसी धमकियों से बच्चों के हृदय पर यह अङ्कित होने मे देर नहीं लगती कि गुस्सा बहुत बुरी वस्तु है, जो मां-बाप को बच्चे को चमड़ी उधेड़ देने तक के लिये प्रेरित कर सकती है। इसी प्रकार खण्डिकोपाध्याय की चपेटिका और मास्टर जी की बेंत भी शिष्यों के मन पर क्रोध की भीषणता को आसानी से अङ्कित कर देती है। दूसरे क्रोध को देख कर

प्रत्येक व्यक्ति यह कह उठता है कि क्रोध मनुष्य को राक्षस बना देता है।

२. गुरुजनों का व्यवहार— दूसरे के क्रोध को बुरा मानता हुआ भी मनुष्य स्वय क्रोध करता है, इसका कारण यह है कि वह विचार और विवेक से काम नही लेता। क्रोध के बीज प्राय: बचपन मे ही बोये जाते हैं। गुरुजनो (माता, पिता और अध्यापकों) के व्यवहार से। नासमझ गुरुजन बच्चे की किसी भूल या शरारत से असन्तुष्ट हो कर क्रोध के आवेग में उसे अपशब्दों द्वारा डांटते हैं, गाली तक दे डालते है और मारते-पीटते हें। क्रोध के समय दिया दण्ड कभी परिमित नहीं रहता। बच्चों का सबसे बड़ा शिक्षक अनुकरण है। वह क्रोध करने, गाली देने और मारने-पीटने का पहला पाठ गुरुजनों से सीखता है। इस कारण जो माता-पिता और शिक्षक चाहते है कि उन के बच्चे और शिष्य क्रोध से बचें, वे स्वयं संयमी बने। न बच्चो के सामने आपस में क्रोध का प्रदर्शन करें और न बच्चों को क्रोध के आवेश में आकर दण्ड दे। दण्ड देना आवश्यक ही हो तो क्रोध का आवेग उतर जाने पर बच्चे का हित सोच कर विवेक पूर्वक यथायोग्य दण्ड दे। जो दण्ड विधिपूर्वक नही दिया जाता, वह अपराध को रोकने की जगह उसे बढ़ाने का कारण बन जाता है।

क्रोध को रोकने के उपायों पर विचार करते हुये पहले यह देखना आवश्यक है कि मनुष्य को किन कारणों से क्रोध आता है। क्रोध भड़कने के प्राय: निम्नलिखित कारण होते है —

क वाणी अथवा शारीरिक आघात से पीड़ा — यह कारण प्राय: उन लोगों पर तीव्रता से प्रभाव उत्पन्न करता है। जिनके शरीर या मन निर्बल होते हैं, निर्बल जल्दी कराह उठता है और जल्दी शाप देता है।

ख क्रोध का दूसरा कारण अपमान या अधिक्षेप का अनुभव है। अपनी बुराई सुन कर मनुष्य तिलमिला उठता है और बदले के लिये वाणी या हाथ उठा देता है।

इन दोनो प्रकार के कारणों का उपाय जितना कठिन प्रतीत होता है उतना ही सरल है। इनका इलाज है दृढ़ता से, निरन्तरता से, धैर्य और क्षमा का अभ्यास। धैर्य से सहने की शक्ति उत्पन्न होती है, जो मनुष्य को बलवान् बना देती है। किसी ने गाली दी, हमने धैर्य से सह ली। हमारा बिगड़ा कुछ नहीं, हमने पाया बहुत कुछ। हम मानसिक विक्षोभ से बच गए और गाली देने वाले से बहुत ऊंचे स्तर पर चले गये।

क्षमा एक प्रकार से धैर्य का ही उत्तरार्ध है। क्षमा के बिना धैर्य लंगड़ा रह जाता है। हमने किसी अपमान जनक बात को धैर्य से सह लिया और बात कहने वाले को हृदय से क्षमा कर दिया। हमारे मन का विक्षोभ समाप्त हो गया। परन्तु यदि हमने सहन तो कर लिया, पर क्षमा न किया तो हमारे मन मे बदले की भावना बनी रहेगी अथवा हम अन्दर ही अन्दर घुटने लगेंगे जिसका हमारे मन और शरीर पर बुरा प्रभाव होगा। नीतिकार ने कहा है —

क्षमाखड्गः करे यस्य, दुर्जनः किं करिष्यति।
अतृणे पतितो वन्हिः, स्वयमेव प्रशाम्यति॥

जिस के हाथ में क्षमा की तलवार हो, दुर्जन उस का क्या बिगाड़ सकता है ? जहा तिनका नहीं वहां पड़ी हुई आग की चिन्गारी स्वयं ही बुझ जायगी ।

धैर्य क्रोध के वार को कुण्ठित कर देता है तो क्षमा उसे सर्वथा तोड़ देती है।

क्रोध के आवेश में या किसी लोभ से दूसरे को जो पीड़ा दी जाती है, उसे 'हिंसा' कहते हैं। वह महा पाप है। उस के विपरीत 'अहिंसा' धर्म है। यह सभी धर्माचार्य स्वीकार करते हैं कि यदि दूसरे के सुधार के लिए उसे शान्त भाव से कोई दण्ड दिया जाय, अथवा किसी को कष्ट से छुड़ाने के लिए चिकित्सा रूप में आपरेशन आदि किया जाय तो वह हिंसा नहीं है। पाप और पुण्य का निर्णय प्रायः किसी कर्म के निमित्त या उद्देश्य से होता है। संसार में अशान्ति का दौरदौरा है। एक जाति दूसरी जाति के प्राणों की प्यासी बनी हुई है। वातावरण में हिंसा का साम्राज्य है। इस के मूल कारण दो हैं। या तो एक दूसरे की शक्ति के अपहरण का लोभ है या किन्हीं पुरानी शत्रुताओं के कारण उत्पन्न हुआ क्रोध है, जो बदले की भावना के रूप में परिणत हो गया है। यदि मनुष्यों के हृदय पर यह बात अंकित हो जाय कि ससार मे फैली हुई असुरक्षा और अशान्ति का एक मुख्य कारण क्रोध है तो वह उस से बचने

का साधन करेगा। व्यक्तियों मे भाव परिवर्तन के साथ ही जातियों के भावों में भी परिवर्तन आ जायगा, इस में सन्देह नहीं। परस्पर वैमनस्य और उस से क्रोध उत्पन्न होने का एक बड़ा कारण वहम होता है, जो प्रायः विचारों की अनुदारता से उत्पन्न होता है। हम यदि स्वयं कुछ भूल जाते हैं तो समझ लेते हैं कि कुछ भूल हुई परन्तु यदि कोई दूसरा भूल जाता है या भूल से कोई काम कर बैठता तो हम समझते हैं कि वह झूठ बोलता है और उस ने जो कुछ किया जानबूझ कर किया। इसे वहम कहते हैं, जिस के बारे में मशहूर है कि उस रोग की दवा हकीम लुक्मान के पास भी न थी। कोई ऐसा व्यक्ति जिसे हम अपने से छोटा समझते हैं, जब मिला तब नमस्कार या अभिवादन करना भूल गया। यदि हम ने उसे भूल ही समझा तो कोई बात नहीं, परन्तु यदि हम ने उसे जान-बूझ कर किया गया अपमान मान लिया तो वह हमारे जीवन की एक समस्या बन गई। मन में विक्षोभ उत्पन्न हो जायगा, दण्ड देने की इच्छा उत्पन्न होगी और सम्भव है चिरकाल के लिए वैमनस्य की बुनियाद पड़ जाय। वहम या भ्रम से कभी-कभी बड़े अनर्थ हो जाते हैं। घर बिगड़ जाते हैं, कुलों मे लम्बी शत्रुताएं उत्पन्न हो जाती हैं और अन्त में दोनों पक्षों का नाश हो जाता है। यह परिस्थिति उत्पन्न न हो, इस का उपाय यह है कि अपने हृदय को उदार बनाओ।

याद रखो —

आत्मवत्सर्वभूतानि यः पश्यति सः पण्डितः।

जिसे तुम अपने लिए उचित समझते हो, उसे दूसरे के लिए भी उचित समझो। जो तुम्हारे लिए भूल है, वह दूसरे के लिए भूल ही है। अपने और पराये कार्यों को दो नपैनों से न नापो। अपने कटु वाक्यों को स्पष्टवादिता और दूसरे के कटु वाक्यों को गाली समझोगे तो कभी सुखी न रह पाओगे। जो मनुष्य स्वयं सुखी रहना चाहे और दूसरों को दुःख न देना चाहे, उसे अपना हृदय उदार रखना चाहिये। हृदय की उदारता ऐसी चट्टान है, जिस पर बाहर से आई हुई बड़ी से बड़ी विक्षोभ की लहरें टकरा कर चूर-चूर हो जाती हैं।

ये सब क्रोध को रोकने के उपाय हैं। परन्तु यदि क्रोध उत्पन्न हो जाय तो क्या करना चाहिये? यह भी एक आवश्यक प्रश्न है।

हम ने बतलाया है कि मन्यु मनुष्य का नैसर्गिक गुण है। उस से योगी और ऋषि भी शून्य नहीं होते। किसी बुरी बात से मनुष्य के मन मे प्रतिकूलता, अरुचि या ग्लानि उत्पन्न हो, यहाँ तक स्वाभाविक है। उस में अस्वाभाविकता और और अनिष्टता तब आ जाती है जब वह प्रतिकूलता उग्र हो कर क्रोध का रूप धारण करने लगती है। उस समय मनुष्य को संभलना चाहिए।

हम पहले अध्याय में शरीरी का विवेचन करते हुए उपनिषद् के उद्धरण से बतला आए हैं कि यह शरीर रथ के समान है, इस में इन्द्रिय रूपी घोड़े जुते हुए हैं, जिन्हें बुद्धि रूपी सारथि मन की लगाम से काबू रखता और चलाता है। रथ

का स्वामी आत्मा इस संसार पथ का यात्री है। यदि उस का सारथि चतुर और सावधान है तो वह लगाम को दृढ़ता से संभाल कर घोड़ों को ठीक मार्ग पर चलाता रहेगा, जिस से जीव की संसार यात्रा सुख पूर्वक चलती रहेगी। परन्तु यदि सारथि सावधान न रहा या अत्यन्त निर्बल हो गया, रस्सियां ढीली पड़ गईं या टूट गईं और घोड़े स्वच्छन्द होकर भागने लगे तो इस में सन्देह नहीं कि रथ या तो दीवार से जा टकरायगा या गढ़े में गिर जायगा, जिस से घोड़े, रथ और रथी सभी चकना-चूर हो जायेंगे। क्रोध के प्रकरण में यह दृष्टान्त बहुत सुगमता से समझ मे आ सकता है। क्रोधाविष्ट मनुष्य का बुद्धि रूपी सारथि बहुत शीघ्र शक्ति हीन हो जाता है। मानो उसे पक्षाघात हो गया हो। क्रोध के कारण शरीर के रक्त की गति अत्यन्त तीव्र हो जाती है, रक्त का वेग हृदय की ओर हो जाने से मस्तिष्क काम करना छोड़ देता है, फलतः ज्ञान तन्तु निर्बल और क्रिया तन्तु प्रबल हो जाते हैं। रथ के घोड़े सारथि के हाथ से निकल कर जिधर चाहते हैं, चल देते हैं। परिणाम यह होता है कि शरीर रूपी रथ दीवारों को तोड़ता और पेड़ों को उखाड़ता हुआ स्वयं भी घायल हो जाता है और अन्त में ये सब विपत्तियां शरीर के स्वामी आत्मा को भोगनी पड़ती है।

मनुष्य को सदा ध्यान रखना चाहिये कि वह अपने मन्यु को क्रोध रूप में परिवर्तित न होने दे। जब वह अनुभव करे कि अब क्रोध उस पर हावी होने लगा है, तब निम्न लिखित

उपायों से काम लेना चाहिये। ये अनुभव सिद्ध और प्रसिद्ध प्रयोग हैं —

१. क्रोध की गर्मी उत्पन्न होने से पूर्व ही जिस कारण से गर्मी उत्पन्न हो रही है, उस से दूर हट जाना चाहिये। मान लीजिये किसी व्यक्ति के कठोर शब्द हमें क्रोधित कर रहे हैं। उस से बात करना छोड़ दो, वहां से अलग हो जाओ या यह कह दो कि इस समय मै तुम से बात नहीं करना चाहता। कुछ समय बीच में पड़ जाने से आप भी कुछ ठण्डे पड़ जाओगे और शायद वह भी संभल जाय। पुरानी लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि जब गुस्सा आने लगे तो पहले एक सौ तक गिनती गिन लो, तब मुंह से बात निकालो। यह बहुत उपयोगी सलाह है। तुर्की-बतुर्की जवाब देने से या नहले पर दहला लगाने की चेष्टा करने से क्रोधाग्नि बढ़ जाती है, यहां तक कि उस में भस्म कर देने तक की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। याद रखो कि अपशब्दों अथवा निन्दनीय कृत्यों की लड़ाई में जो व्यक्ति पहले मौन हो जाता है, वही विजयी होता है। उस समय अच्छा लगे या न लगे, पीछे से वह मनुष्य हृदय मे सन्तोष का अनुभव करता है जो मूर्खता और बेहूदगी की प्रतिस्पर्धा से पहले अलग हो जाता है। संसार तो उसे समझदार कहता ही है।

कभी ऐसी परिस्थितियां भी हो सकती हैं कि क्रोध आ जाने पर मौन हो जाना सम्भव न हो, काम जल्दी का हो, आदेश देना आवश्यक हो या चुप हो जाने से भ्रम पैदा हो सके तो दो बातों का ध्यान रखना चाहिये। क्रोध में भी मुंह से

अपशब्द या गाली न निकले और धमकियों का प्रयोग न हो। क्रोध में अपशब्दों का प्रयोग करने से मनुष्य की जिह्वा कभी-कभी बड़े-बड़े अनर्थ कर डालती है। अच्छे-भले लोग क्रोधवश और अभ्यासवश अपनी मां को, स्त्री को, बच्चों को, बैल और घोड़ा आदि पशुओं तक को मां बहन की गालियां दे डालते हैं। क्रोध में धमकियों का प्रयोग भी बहुत खतरनाक है। न केवल मनुष्य स्वयं अनर्गल और असम्भव धमकियां दे डालता है, दूसरे में वैसी प्रतिक्रिया भी उत्पन्न करता है। क्रोध आने पर अत्यन्त सावधान होकर शब्दों का प्रयोग करने से मुह से कोई अनुचित शब्द भी न निकलेंगे और सम्भवतः क्रोध भी शान्त हो जायगा।

क्रोध की दशा में प्रहार तो कभी करना ही न चाहिये। प्रहार के दो उद्देश्य हो सकते हैं। एक दण्ड और दूसरा बदला। दण्ड कभी तत्काल आवेश में न देना चाहिये क्यों कि वह कभी सन्तुलित नहीं होता। दण्ड वही उचित और सफल होता है जो सोच-विचार कर दिया जाय। रहा बदला, वह तो सर्वथा वर्जित है। बदला लेने की भावना रखने से अधिक दुःख उसी को होता है जो वैसी भावना रखता है।

यह प्रश्न हो सकता है कि जब क्रोध उत्पन्न हो जाय तो प्रहार के लिये उठते हुए हाथ पांव या शस्त्र को कैसे रोका जाय ? इस का उत्तर गीता में दिया गया है —

अभ्यासेन तु कौन्तेय, वैराग्येण च गृह्यते।

वैराग्य, जो विवेक से उत्पन्न होता है और निरन्तर अभ्यास–ये दो उपाय हैं, जिन से मनुष्य काम, क्रोध या लोभ के बढ़ते हुए आवेग को रोक सकता है। इस का एक ऐतिहासिक दृष्टान्त है। फ्रांस के बादशाह चौदहवें लुई को अपने देश के एक न्यायाधीश के व्यवहार पर बहुत क्रोध आया। उस समय बादशाह के हाथ मे एक छड़ी थी। ज्यों ही लुई ने अनुभव किया कि क्रोध काबू से बाहर जा रहा है, उस ने खुली खिड़की के पास जाकर छड़ी कमरे से बाहर फेंक दी। विवेक और संयम की इस क्रिया ने उस के गौरव की रक्षा कर दी और यह घटना इतिहास में लिखने योग्य बन गई। जब देखो कि क्रोध का आवेग बढ़ रहा है, अपनी जिह्वा और हाथ पांव को संयम की रस्सियों में जकड़ दो, यही क्रोधजन्य रोगों के दुष्परिणामों से बचने का उपाय है।

क्रोध का एक मुख्य कारण अप्रिय वाणी (कड़वी भाषा) है। कुछ लोग स्पष्टवादिता का अर्थ कटुभाषिता समझते हैं। ऐसे लोगों की यह विशेषता है कि वे दूसरे की अणुमात्र भी कड़वी बात सह नहीं सकते और दूसरों से आशा रखते हैं कि वे उन की कड़वी से कड़वी बात को 'साफगोई' मान कर माला की तरह गले मे पहन लेंगे। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषान्न समाचरेत्' अपनी अन्तरात्मा कर्तव्य कर्म का सब से बड़ा और विश्वासपात्र साक्षी है। ऐसे लोग स्वयं अपने व्यवहार से अपने को दोषी सिद्ध कर देते हैं। इस प्रकरण में स्मृतिकार का यह वचन स्मरण रखना चाहिये —

सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम् ।
प्रियं च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः ॥

सच बोले, परन्तु प्रिय बोले, सत्य को अप्रिय बना कर न बोले और असत्य को प्रिय रूप देकर न बोले—यह सनातन-धर्म है। भक्त कबीर ने भी कहा है —

मीठी वाणी बोलिये, मन का आपा खोय ।
औरन को शीतल करे, आप भी शीतल होय ॥

मीठी वाणी बोलने के लिए झूठे अभिमान का त्याग कर देना पड़ता है। उस के बिना मनुष्य दूसरों के लिए तो दुःखदायी हो ही जाता है, अपने लिए भी निरन्तर बेचैनी मोल ले लेता है।

—

अष्टम अध्याय

लोभ

प्रथम प्रकरण

लोभ की व्याख्या

भगवद्गीता में कहा है —

त्रिविधन्नरकस्येदं द्वारन्नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥

काम, क्रोध और लोभ — ये तीन नरक के द्वार हैं। इन से होकर मनुष्य दुःखमय जीवन में प्रवेश करता है, इस कारण इन तीनों का परित्याग करना चाहिये। काम और क्रोध का विस्तृत विवेचन कर चुके, अब लोभ का विवेचन किया जाता है।

इच्छा

लोभ का सात्त्विक रूप इच्छा है, जिसे स्मृति ग्रंथों में 'काम' अथवा 'सकामता' शब्द से निर्दिष्ट किया गया है।

मनुस्मृति में बतलाया गया है —

अकामस्य क्रिया काचिद्, दृश्यते नेह कर्हिचित्।
काम्यो हि वेदाधिगमः, कर्मयोगश्च वैदिकः ॥

सब क्रियाये इच्छा पूर्वक होती हैं। मनुष्य की कोई प्रवृत्ति इच्छा के बिना नही होती। वेदो का अध्ययन तथा वेदोक्त कर्म करना भी इच्छा पूर्वक ही होता है। इच्छा आत्मा का लक्षण है जो उसे जड़ पदार्थो से पृथक् करता है। स्मृतियों में उस के लिये 'काम,' 'कामना' आदि शब्दों का प्रयोग भी मिलता है।

इच्छा आत्मा का स्वाभाविक धर्म है, जैसे द्रव होना जल का स्वाभाविक धर्म है। जल यदि घन हो जाय तो हिम बन जाता है और यदि अधिक सूक्ष्म हो जाय तो वाष्प का रूप धारण कर लेता है, इसी प्रकार इच्छा रहित मनुष्य अथवा प्रबल

इच्छाओं के वशीभूत चेतन की भी मनुष्य श्रेणी मे गिनती नहीं होती — वह या जीवन्मृत कहलायगा या दानव। चाहना या इच्छा करना मनुष्य का लक्षण है।

जब तक इच्छा का रूप सामान्य और विशुद्ध रहता है उस का विवेक से (विचार शक्ति से) सम्बन्ध बना रहता है, क्यों कि इच्छा की भांति ज्ञान भी आत्मा का लक्षण है। मनुष्य इच्छापूर्वक काम करता है। यदि विवेक और इच्छा का सम्बन्ध बना हुआ है तो इच्छायें मनुष्य को सन्मार्ग पर ले जायेंगी परन्तु यदि वह सम्बन्ध टूट गया तो वही इच्छाये बेलगाम घोड़ों की तरह मनुष्य को खाई में फेक देगी।

एषणा

इच्छा के सात्त्विक रूप को मिटा कर उसे राजस बनाने वाली एषणा है। एषणायें तीन हैं — वित्तैषणा, लोकैषणा, पुत्रैषणा।

इच्छा और एषणा में क्या भेद है ?

इच्छा वस्तु या क्रिया की चाहना मात्र है। वह जब एक ओर केन्द्रित होकर तीव्र हो जाती है, तब एषणा कहलाती है। जब तक इच्छा रहती है, तब तक वह मनुष्य के सारे अस्तित्व पर हावी नहीं होती। परन्तु जब वह एक ओर को अधिक खिंच जाय तो अन्य सब इच्छाओं और प्रवृत्तियो पर हावी हो-कर मनुष्य के जीवन का विशेष लक्षण सा बन जाती है। तब उस मे व्यक्ति के सब कार्यों पर व्यापक प्रभाव डालने की शक्ति पैदा हो जाती हैं।

पुत्रैषणा

पहले पुत्रैषणा को लीजिये। मनुष्य को, विशेष रूप से स्त्री को, सन्तान की स्वाभाविक अभिलाषा होती है। वह स्वाभाविक अभिलाषा प्राणी संसार की निरन्तरता का आधार है। सन्तान हो, इस स्वाभाविक अभिलाषा को सहयोग देने के लिए मनुष्य मे सन्तान प्रेम का भाव विद्यमान है। सन्तान की अभिलाषा और सन्तान से प्रेम – ये दो स्वाभाविक गुण हैं जो प्राणि जगत् का संचालन करते हैं।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि एषणा मे केवल इच्छा की अपेक्षा आवेग अधिक रहता है, जो उग्रता की सीमा तक पहुंच जाता है। अधिक उग्र होकर वह मनुष्य को अच्छे बुरे दोनों प्रकार के कामो के लिये प्रेरित कर सकता है। अच्छे की तो सीमा है, बुरे की कोई सीमा नही। सन्तान की उग्र एषणा से प्रेरित होकर पुरुष सती साध्वी पत्नियों तक का त्याग कर देते हैं। पुराने राजा, नवाब और रईस लोगों के बहु-विवाह का मूल कारण पुत्रैषणा ही रही होगी। नैपोलियन ने अपनी स्वयवृता जोसफीन का परित्याग केवल इस लिए किया था कि उसे एक पुत्र चाहिये था, और ईरान के शाह मुहम्मद रज़ा पहलवी ने पतिपरायणा सुरय्या को पुत्र की उत्कट आकांक्षा से ही तलाक दिया है। इसी प्रकार ऐसी स्त्रियां जिन्हें शब्दार्थ के अनुसार असूर्यम्पश्या कहा जाता है उग्र पुत्रैषणा से प्रेरित होकर प्रायः दम्भियों और ठगों के हाथ में फंस जाती हैं और अकथनीय भूलें कर बैठती हैं।

सन्तान की इच्छा और सन्तान से प्रीति — दोनों भाव स्वाभाविक हैं और उत्तम हैं, परन्तु जब वे एषणा के रूप में

परिणत होकर उग्र हो जाते हैं, तब उन के कर्म के सीमाक्षेत्र से निकल कर विकर्म बन जाने की सम्भावना रहती है।

वित्तैषणा

किसी न किसी रूप में धन की अभिलाषा मनुष्य के लिए नैसर्गिक भी है और उपादेय भी। मनुष्य को अपने जीवन की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये आर्थिक साधनों की ज़रूरत होती है। परिवार के भरण-पोषण के लिये धन का उपार्जन अनिवार्य है, और मनुष्य समाज की प्रत्येक इकाई को वर्तमान और भविष्य के लिये किसी न किसी रूप में सम्पत्ति चाहिये। व्यक्ति और समाज की आवश्यकताएं पूर्ण करने के लिए अर्थ का उत्पादन, विभाजन और उपभोग बुरा नहीं, अपितु एक सीमा तक धर्म है।

इच्छा दोष तब बन जाती है, जब वह सीमा का अतिक्रमण कर जाय। जब धन की अभिलाषा उग्र हो जाती है, तब वह एषणा का रूप धारण कर लेती है। धन की इच्छा के उग्र होने के मुख्य रूप से दो ही कारण होते हैं। एक कारण विलासिता और उपभोग की उत्कट प्रवृत्ति है और दूसरा कारण धन के लिए धन से प्रेम है। अय्याशी और कंजूसी इन दोनों प्रवृत्तियों के बिगड़े हुए रूप हैं।

बढ़ी हुई धन तृष्णा के परिणाम इतने स्पष्ट हैं कि उन को विस्तार से लिखने की आवश्यकता नहीं। आज सभ्य संसार में जो भयावनी आर्थिक प्रतिस्पर्धा चली आ रही है, उस का मूल कारण धन की तृष्णा या वित्तैषणा ही है, घोर राजनीतिक

प्रतिस्पर्धा का मूल कारण भी मुख्य रूप से वही है। यह बढ़ी हुई प्रतिस्पर्धा व्यक्तियों और राष्ट्रों को एक दूसरे का गला काटने के लिए प्रेरित करती है। वित्तैषणा से उत्पन्न होने वाली आर्थिक प्रतिस्पर्धा के पक्षपाती लोग प्रतिस्पर्धा (Competition) के साथ 'स्वस्थ' (Healthy) शब्द जोड़ कर समझते हैं, कि हम ने तांबे को सोना बना दिया परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि दोषयुक्त कार्य की प्रतिस्पर्धा कभी 'स्वस्थ' या निर्दोष नहीं हो सकती। सीमा से बढ़ी हुई धनाभिलाषा कभी निर्दोष नहीं हो सकती। उस के दोनों परिणाम मनुष्य के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य के लिए घातक होते हैं। यदि धन की उत्कट अभिलाषा ने मनुष्य को कंजूस बना दिया तो उस की शारीरिक शक्ति विकास नहीं पा सकती। वह अपने धन को न अपने उपयोग में ला सकता है और न दूसरों के लिए लगा सकता है। उस को जो गति होती है, उसे नीतिकार ने बहुत स्पष्टता से बतलाया है—

दानं नाशो भोगः, तिस्रो गतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुङ्क्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति॥

धन की तीन गतियां हैं— उस का दान कर दो, स्वयं उपयोग में लाओ या वह नष्ट हो जाय। जो मनुष्य न दान करे और न उपभोग करे, उस की तीसरी गति हो जाती है। उस का धन नष्ट हो जाता है। धन नाश के अनेक उपाय हैं— स्वयं व्यापार मे घाटा हो जाय, चोर चोरी कर ले जायँ या

सन्तान बरबाद कर दे। सूम का धन लुट कर ही रहता है।

बढ़ी हुई वित्त लिप्सा का दूसरा परिणाम होता है विषय-भोग, विलासिता और अय्याशी। ये रोग ऐसे हैं कि बड़े से बड़े शक्ति सम्पन्न मनुष्य का सिर नीचा कर देते हैं और अन्त में स्वास्थ्य और यश का दिवाला निकाल देते हैं। बढ़ी हुई धन-लिप्सा मनुष्य की शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शक्तियों को कुण्ठित कर देती है।

—

द्वितीय प्रकरण

लोभ के परिणाम

लोभ शब्द सस्कृत का है। उस का अर्थ है — 'परद्रव्येषु अतिशयाभिलाष.'। दूसरे के धन की अत्यन्त अभिलाषा। इच्छा का राजस रूप वित्तैषणा है और वित्तैषणा का तामस रूप लोभ है। जब वित्तैषणा इतनी बढ़ जाती है कि वह मनुष्य को दूसरे के धन को नोचने के लिए प्रेरित कर दे तो पाप का रूप धारण कर लेती है। संसार के अधिकतर आर्थिक और राजनीतिक रोगों का उत्पत्ति स्थान लोभ है। स्मृतिकार ने कहा है —

लोभः पापस्य कारणम्।

लोभ मनुष्यों को पाप के लिए प्रेरित करता है। लोभ से जिन बुराइयों की उत्पत्ति होती है, उन मे से कुछ निम्न लिखित हैं —

१. **चोरी (स्तेय)** — दूसरे के माल को गुप्त उपायों से प्राप्त करना चोरी कहलाता है। जेब कतरना, सेंध लगाना, ताला तोड़ कर चुपके से माल हर लेना — इन सब का प्रेरक कारण लोभ है। अपनी ईमानदारी और मेहनत से प्राप्त की हुई रोजी से सन्तुष्ट न हो कर दूसरेके माल को प्राप्त करना पाप है। इसी लिए लोभ को पाप का कारण कहा है।

२. **धोखाधड़ी या चार सौ बीसी**—यह चोरी का रूपान्तर है। इसे ठगी भी कहते हैं। इस का कारण भी लोभ है। ऐसे लोग कभी साधु के भेस मे, कभी मित्र के भेस में और कभी व्यापारी के भेस में भोले लोगों को ठगते और अपनी जेब भरने का यत्न करते है। आज कल झूठी कम्पनियां बना कर जनता के धन का अपहरण करने वाले पढ़े लिखे ठगों की संख्या बढ़ रही है। ये लोभ के कीड़े चोरों से अधिक भयानक होते हैं।

३. **डकैती** — कुछ लोग डाकू बन जाते हैं,। इस के दो निमित्त होते हैं। एक निमित्त होता है लोभ और दूसरा बदले की भावना। दोनों ही अपराध है। कुछ लोग समझते हैं कि जो लोग बदले की भावना से डाकू बन जाते हैं, वे अन्यों से कुछ अच्छे होते है। यह भूल है। जो अभागे बदला लेने के लिए डाकू बन जाते है, उन मे लोभ की मात्रा कुछ कम नहीं रहती। वे मारते भी हैं और लूटते भी हैं। साथ ही वे प्राय: स्त्री जाति पर विशेष अत्याचार करने लगते हैं। उन में काम, क्रोध और लोभ तीनों दोषों का समावेश हो जाता है।

वे समाज के घोरतम शत्रु हैं ।

ईसा की सारी १६ वीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के प्रथम चरण में पश्चिम के देशों की मुख्य राजनीतिक प्रेरणा का कारण धन और सम्पत्ति का ही लोभ था । उसे व्यापार और कारीगरी के विकास का काल कहते हैं । दोनों बढ़ी हुई वित्तैषणा के प्रतीक है । जब वित्तैषणा सीमा से बढ़ गई तो पश्चिम के देश निर्बल देशो पर अधिकार जमाने की धुन में पागल हो कर एशिया और अफ्रीका पर चढ गए । मै आगे रहू, इस उमंग से हरेक भागने लगा, जिसका परिणाम निकला घोर राजनीतिक प्रतिस्पर्धा, युद्ध और विनाश । यद्यपि अब एशिया और अफ्रीका के जाग उठने से पश्चिम की राजनीतिक डकैती बहुत कुछ बन्द हो गई है, फिर भी जितनी राजनीतिक प्रतिस्पर्धा बनी हुई है, उस का मुख्य कारण लोभ ही है । प्रत्येक बड़ा देश अपने प्रभाव क्षेत्र को बढ़ा कर धनिकता की दौड़ में आगे बढ़ना चाहता है । धन बुरा नही । वह जीवन के उपायों को प्राप्त करने का साधन होने से अनिवार्य है, परन्तु उसका लोभ पाप है, क्यो कि वह मनुष्य को बड़े से बड़े व्यक्तिगत और सामाजिक पापो में घसीट ले जाता है ।

राज्यों मे सब से उत्तम राज्य गणराज्य समझा जाता है । उस का नाश भी यदि होता है तो लोभ से । व्यक्तिगत लोभ से भ्रष्टाचार की वृद्धि होती है और भ्रष्टाचार नाश का कारण बन जाता है । धन का लोभ राष्ट्र को आक्रमणात्मक युद्ध में घसीट ले जाता है, जिस से अच्छा से अच्छा गणराज्य नष्ट हो

जाता है। महाभारत के शान्तिपर्व में युधिष्ठिर भीष्मपितामह से पूछते हैं —

गणानां वृत्तिमिच्छामि, श्रोतुं मतिमतां वर ।
यथा गणाः प्रवर्धन्ते, नश्यन्त्यन्ते च भारत ।।

उत्तर मिला है —

गणानाञ्च कुलानाञ्च, राज्ञां च भरतर्षभ ।
वैरसन्दीपनावेतौ, लोभामर्षौ जनाधिप ।।
लोभमेको हि वृणुते, ततोऽमर्षमनन्तरम् ।
तौ क्षयव्ययसयुक्तावन्योन्यजनिताश्रयौ ।।

गणराज्यों, अन्य सब प्रकार के राज्यो और राजाओं के नाश के दो कारण होते हैं — लोभ अमर्ष और असहिष्णुता। उन में से पहले लोभ आता है, फिर अमर्ष आता है। वे दोनों एक दूसरे का सहारा लेकर आगे बढ़ते हैं और अन्त में नाश के कारण हो जाते हैं।

—

तृतीय प्रकरण

साम्राज्यवाद और सम्पत्तिवाद

अब यह बात सर्व सम्मत सी मानी जाती है कि सम्पत्ति-वाद और साम्राज्यवाद मनुष्य जाति के घोर शत्रु हैं। समाज

की अर्थव्यवस्था कुछेक सम्पत्तिधारियों के हाथ मे आ जाय और समाज के धन का प्रवाह उन सम्पत्तिधारियों की ओर बहता जाय, यह सम्पत्तिवाद है। उस का परिणाम यह होता है कि धनी लोग निरन्तर धनी होते जाते हैं और सर्वसाधारण की दरिद्रता अधिकाधिक बढती जाती है। सारा समाज अत्यन्त धनी और अत्यन्त निर्धन इन दो श्रेणियों में बट जाता है, जिस का अन्तिम फल यह होता है कि समाज का बडा भाग दुर्दशा के चंगुल से निकलने के लिये क्रान्ति का सहारा लेता है।

साम्राज्यवाद सम्पत्तिवाद का विशाल रूप है। शक्ति सम्पन्न राज्य निर्बल राज्यों और राष्ट्रो को छल या बल द्वारा अपने अधीन कर लेते हैं — उसी का नाम साम्राज्य हो जाता है। जैसे सम्पत्तिवाद के दौर दौरे में शक्तिशाली अधिक शक्तिशाली और निर्बल अधिक निर्बल होते जाते हैं, उसी प्रकार साम्राज्यवाद में निर्बल राज्यों और राष्ट्रों की सत्ता मिटती जाती है और बलशाली राज्य संसार के भाग्यविधाता बन जाते हैं।

दोनों का मूल कारण — लोभ

व्यक्तियों का लोभ सम्पत्तिवाद का और जातियों तथा राज्यों का लोभ साम्राज्यवाद का मूल कारण है। धन के अभिलाषी धन कमा लेते हैं तो स्वभावतः उनकी धन कमाने की अभिलाषा और धन कमाने की शक्ति दोनों में वृद्धि हो जाती है। उन में यह शक्ति भी आ जाती है कि देश के कानून को सम्पत्ति कमाने का साधन बना लें। इतना ही नहीं, रुपये

में इतनी शक्ति है कि वह विद्वानो के मस्तिष्कों तक को प्रभावित कर देना है। धनिकों की विभूति के असर में आ कर लेखक और विचारक भी ऐसे सिद्धान्तों का पोषण करने लगते हैं जिन से सम्पत्तिवाद को पुष्टि मिले। १९ वी शताब्दी ईस्वी के उत्तरार्ध मे योरूप मे भी ऐसा ही हुआ। उस समय तत्त्वज्ञान में उपयोगितावाद (Utilitarianism), प्राणिशास्त्र में योग्यतम की रक्षा (Survival of the fittest) और आर्थिक क्षत्र मे खुला प्रतिस्पर्धा (Free competition) और व्यापार की स्वाधानता (Freedom of trade) जैसे सिद्धान्तों का जन्म हुआ जिन की पुष्टि मे पश्चिम के बड़े-बड़े दिमाग लग गये। लगभग ५० वर्षो तक इङ्गलैण्ड के धनपरायण दिमागों से निकले हुये ये सम्पत्तिवादी सिद्धान्त पश्चिम पर छाए रहे। परिणाम यह हुआ कि सम्पत्तिवाद अपनी पराकाष्ठा पर पहुच गया। जमीन जागीरदारों और जमींदारों के हाथ में जाती रही और व्यापार के साधनो पर धनिको का प्रभुत्व बढता गया। हुआ यह सब कुछ हेतुवाद (Rationalism), विकासवाद (Evolution) और उन्नति (Progress) के नाम पर, परन्तु उनका मूल कारण धनिक व्यक्तियो और धनाभिलाषी व्यक्तियों के भिन्न-भिन्न सङ्गठनों का अर्थलोभ ही था।

साम्राज्यवाद

साम्राज्यवाद केवल उन्नीसवीं शताब्दी के अर्थपरायण सिद्धान्तो और प्रवृत्तियों का ही परिणाम नहीं था और उन से बहुत पुराना था तो भी इस मे सन्देह नही कि उस का मूल

कारण लोभ था और उन्नीसवीं शताब्दी की विचारधाराओं से उसे पुष्टि मिली। संसार में साम्राज्यों का उद्भव अनेक कारणों से होता रहा है। प्राचीन काल मे शक्ति का उन्माद और यश की अभिलाषा जैसे मानसिक कारणों की प्रधानता रहती थी। उस समय भी धन के लोभ का सर्वथा अभाव नहीं था, परन्तु वह गौण था। उन्नीसवीं सदी की विचारधारा से आर्थिक पहलू को प्रधानता मिली। अमरीका और भारत की पाश्चात्यों द्वारा खोज का मुख्य प्रेरक कारण धन की इच्छा थी। योरूप के देशों की एशिया और अफ्रीका पर प्रभुता जमाने की इच्छा प्रारम्भ में उतनी राजनीतिक न थी, जितनी आर्थिक। अंत में उस ने जिन कारणों से राजनीतिक रूप ग्रहण किया, उन में अन्यतम यह भी था कि बढ़े हुए व्यापार की रक्षा की जाय। इस प्रकार अर्थलोभ ही उन्नीसवीं सदी के साम्राज्यों की स्थापना का मुख्य कारण बना। धन और राज्य की शक्ति का ऐसा मादक प्रभाव होता है कि योरूप के फिलासफरों और लेखकों ने साम्राज्यवाद को मनुष्य जाति के लिये न केवल उपयोगी, अपितु अनिवार्य सिद्ध करने मे देर न लगाई और गोरों के प्रभुत्व का ढोंग कुछ वर्षों के लिए सभ्य कहलाने वाले संसार का सर्वतन्त्र स्वतन्त्र सिद्धान्त सा बन गया।

दुष्परिणाम

सम्पत्तिवाद और साम्राज्यवाद के तथा उन की आधार भूत कल्पनाओं के दुष्परिणाम अब स्पष्ट हो चुके हैं। उन में से कुछेक निम्नलिखित हैं —

१. उग्र सम्पत्तिवाद का परिणाम यह होता है कि अमीर लोग निरन्तर अमीर होते जाते हैं और गरीबों की गरीबी और लाचारी बढ़ती जाती है।

२. नंगे साम्राज्यवाद का परिणाम प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रहा है। ईसा की उन्नीसवी सदी के अन्त और बीसवीं सदी के आरम्भ में यह स्थिति थी कि ससार का नब्बे फी सदी भाग एक फी सदी का गुलाम बन गया था। ऐसा प्रतीत होता था कि गोरे दुनिया का शासन करने और पीले और काले मनुष्य गुलामी करने को उत्पन्न हुए हैं।

३. सम्पत्तिवाद के अभिशाप की प्रतिक्रिया पहले समाजवाद और कम्युनिज्म के रूप में प्रकट हुई। कम्युनिज्म कैपिटलिज्म का ऐसा ही जवाब है जैसा छर्रे का जवाब गोली है। दोनों ही बुरे हैं, मनुष्य जाति की स्वाभाविक उन्नति को रोकने वाले हैं, परन्तु क्रिया प्रतिक्रिया के अटल सिद्धान्त के अनुसार अनिवार्य से हो गए है।

४. साम्राज्यवाद की प्रतिक्रिया है — राज्य-क्रांति। गत ५० वर्षों में भूमण्डल के बड़े भाग में जो राज्य-क्रान्तियां हुई हैं और अब भी हो रही हैं, वे मनुष्य जाति के साम्राज्यवाद के चंगुल से बचने के प्रयत्नों के विविध रूप हैं।

सम्पत्तिवाद और साम्राज्यवाद का मूल कारण लोभ है। जब तक मनुष्यों के हृदय लोभ से मुक्त नहीं होते, तब तक ये विष किसी न किसी रूप में मनुष्य जाति में विद्यमान रहेंगे।

—

चतुर्थ प्रकरण

चिकित्सा

१. शिक्षा — हमने तृतीय प्रकरण में बतलाया है कि साम्राज्यवाद और सम्पत्तिवाद बढ़े हुए राजनीतिक तथा आर्थिक लोभ के परिणाम हैं और जब वह सीमा से आगे चले जाते हैं, तब उन में से उत्पन्न होने वाली विरोधी शक्तियाँ ही उन के नाश का कारण हो जाती है। शास्त्रकार ने कहा है—

अधर्मेणैधते तावत्ततो भद्राणि पश्यति।
ततः सपत्नान् जयति, समूलस्तु विनश्यति ॥

वासनाओं से भरा हुआ शक्तिशाली मनुष्य पहले अधर्म के सहारे बढता है, फिर सांसारिक सुखों का अनुभव करता है और शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर लेता है और अन्त में समूल नष्ट हो जाता है।

इतिहास का लम्बा चित्रपट अत्याचारियों के पतन, विजेताओं के सर्वनाश और डाकुओं की फांसियो के दृश्यों से भरा पड़ा है। यह सत्य मनुष्य के हृदय पर अंकित हो जाय तो उस की प्रवृत्तियां लोभ से विमुख हो जायेगी। बचपन से ही जो शिक्षा दी जाय उस मे लोभजन्य बुराइयों के बुरे परिणामों को बच्चों को भली प्रकार समझा देना आवश्यक है

ऐसी शिक्षा देते हुए एक बात का ध्यान रखना चाहिए। अतिशय दोनों ओर बुरा है। मनुष्य को लोभ से बचाना चाहिए, इस का अभिप्राय यह नही कि उसे सब त्याग कर

फकीर बन जाना चाहिए। परमात्मा ने ससार में सुखप्रद वस्तुएं इस लिए उत्पन्न की है कि उन से सुख प्राप्त किया जाय और मनुष्य को बुद्धि इस लिए दी है कि उन वस्तुओं का ठीक मात्रा मे और उचित विधि से उपभोग किया जाय। न तो नितान्त संसार त्याग ही उचित है और न उस का अत्यन्त लोभ। यजुर्वेद मे कहा है —

मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।

किसी अन्य के धन की अभिलाषा मत रखो। इस आदेश का स्पष्ट अर्थ है कि अपने परिश्रम से उपलब्ध धन की इच्छा तो रखो परन्तु पराये धन की आकांक्षा कभी मत करो। चोरी, डकैती, चार सौ बीसी और साम्राज्यवाद पराये धन की लालसा अर्थात् लोभ के परिणाम है — यह सचाई बचपन से ही मनुष्य को हृदयंगत कर लेनी चाहिये।

२. **आवश्यकताओं को बढ़ाना हानिकारक है** — मनुष्य को बुद्धि मिली है, अच्छे और बुरे मे तथा सत्य और असत्य मे विवेक करने के लिए। परन्तु कभी-कभी वह उस का उपयोग करता है, बुरे को अच्छा और असत्य को सत्य सिद्ध करने मे। जिस बुराई में मनुष्य फसा होता है, अथवा कुसग से फस जाता है, उस का समर्थन करने के लिये सुनने में अच्छी युक्तिया तलाश कर के वह आत्मा को सन्तुष्ट करने का यत्न करता है। लोभ का एक मुख्य कारण विलासिता की प्रवृत्ति है। इस प्रवृत्ति के समर्थन में एक यह युक्ति भी तलाश की गई है कि आवश्यक-

ताओं की वृद्धि सभ्यता की उन्नति का मूल है। यह हेत्वाभास इतना बढ़ा कि एक समय पश्चिम के तत्त्वज्ञान का एक आधार भूत सिद्धान्त माना जाने लगा था। वस्तुत: यह मन्तव्य न केवल सिद्धान्त रूप मे अशुद्ध है, व्यवहार में भी हानिकारक है। पहले आवश्यकताओं का बढ़ाना, फिर उन को पूरा करने के लिये भले बुरे यत्न करना — इस चक्र का कही अन्त नहीं क्यों कि यदि बढ़ाने लगो तो कोई सीमा नहीं। जितना उन्हें पूरा करो, वे उतना ही बढ़ सकती हैं, यदि स्वयं उन पर कोई प्रतिबन्ध न लगाया जाय। मनुष्य की व्यक्तिगत, परिवारिक और सामाजिक आवश्यकताओं को पूरा करना न केवल उचित है, कर्तव्य भी है, परन्तु उन्हें यत्न-पूर्वक बढ़ाना और उन्हें पूरा करने के पश्चात् फिर बढ़ाना न केवल परले दर्जे की मूर्खता है, संसार की अशान्ति का मुख्य कारण भी है। नैसर्गिक आवश्यकताए सान्त है और कृत्रिम आवश्यकताओं का कोई अन्त नहीं। उन के पीछे भागना मृगमरीचिका के पीछे भागने से अधिक समझदारी का काम नहीं।

न जातु काम: कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव, भूय एवाभिवर्धते ॥

कामनाओं का कही अन्त नहीं। उन्हें पूरा कर के शान्ति चाहो तो नहीं मिल सकती, इस कारण कामनाओं को सीमा से अधिक बढ़ाना व्यक्ति और समाज दोनों के लिए कष्टप्रद है।

३ **सन्तोष** — यदि आवश्यकताओं को बढ़ाना दोष और तद् द्वारा विनाश का कारण है तो फिर क्या उपाय है ? क्या मनुष्य को सर्वत्याग कर देना चाहिये ? क्या उसे निरीह होकर काष्ठकुण्डवत् जड़ बन जाना चाहिये ? उत्तर है कि नही, उसे सन्तोषी होना चाहिये ।

इस उत्तर को समझने के लिये पहले यह जानना आवश्यक है कि 'सन्तोष' का क्या अभिप्राय है? क्या किसी इच्छा का न रहना सन्तोष है ? यह असम्भव है। इच्छा करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है, उस से शरीरी की अवस्था में वह छूट नही सकता। तबक्या इच्छाओं को मार कर अकर्मण्य होकर पड़े रहना सन्तोष है ? यह पाप है । मनुष्य को इच्छा की भांति ही सोचने और प्रयत्न करने को भी शक्ति मिली है । उन शक्तियों का उपयोग न करना आत्महत्या के समान है । यदि ज्ञान और प्रयत्न को सर्वथा निकाल दे तो मनुष्य और ऊँट में कोई भेद नहीं रहता । जो मनुष्य की निर्दोष स्वाभाविक इच्छाएं हैं, उन्हें पूरा करने के लिए विचारपूर्वक उद्योग करना मनुष्य का कर्त्तव्य है। तब सन्तोष क्या है ? निर्दोष व स्वाभाविक इच्छाओं को पूरा करने के लिये सचाई और परिश्रम द्वारा प्रयत्न करने से जो फल प्राप्त हो, उसे प्रसन्नता पूर्वक ग्रहण करे । यदि उसे पर्याप्त न समझे तो और अधिक प्रयत्न करे, परन्तु सदा अपनी दशा पर रोता-झीकता न रहे या दूसरों की उन्नति देख कर डाह की आग में न जलता रहे । यह सन्तोष है । भगवद्गीता मे कहा है —

यदृच्छालाभसन्तुष्टो, द्वन्द्वातीतो विमत्सर: ।
सम: सिद्धावसिद्धौ च, कृत्यापि न निबध्यते ।।

जो मनुष्य इच्छा-पूर्ति के लिये किए गए प्रयत्न द्वारा प्राप्त हुए लाभ से सन्तुष्ट रहे, सुख-दु:ख के चक्कर मे न पड़े, दूसरों से ईर्ष्या न करे, और सिद्धि और असिद्धि दोनो दशाओं मे समान रूप से स्थिर रहे, वह कर्म करता हुआ भी बन्धन में नही पड़ता। इसे सन्तोष कहते हैं। योगदर्शन में कहा है —

सन्तोषादनुत्तम सुखलाभ: ।

सन्तोष से असाधारण सुख की प्राप्ति होती है, जो सच्चा सन्तोषी है, उसे लोभ नहीं ग्रस सकता, परन्तु जो अपनी दशा से सदा असन्तुष्ट रहता है, उस की दृष्टि दूसरों के सुख और माल पर रहती है। वह या तो पराये माल को येन केन प्रकारेण चुरा कर या लूट कर स्वयं धनी बनने का यत्न करता है, अथवा अन्दर हो अन्दर घुल कर मर जाता है। दोनों संकटों से बचने का एक यही उपाय है कि मनुष्य सच्चा सन्तोषी बने, ईमानदारी और मेहनत से जो प्राप्ति हो, उस का न्यायपूर्वक उपभोग कर के प्रसन्न रहे। जीवन भर शुभ कर्म करना न छोड़े और शुभ कर्मों से जो फल प्राप्त हो, उस से सन्तुष्ट रहने की वृत्ति उत्पन्न करे। ऐसा करने से वह लोभजनित पापों और दु:खों से बचा रहेगा।

४. **दान की प्रवृत्ति** — लोभ की एक बहुत बड़ी काट

दान की प्रवृत्ति है। दान देने से कई लाभ हैं। दाता में उदारता और त्याग की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, जिसे दान दिया जाता है, उस का उपकार होता है और धन का सद्व्यय होता है। दान वस्तुतः लोभ की महौषध है।

दान कई निमित्त से किये जाते हैं, सात्विक दान वह है जो निस्स्वार्थ भाव से दूसरे की सहायता के लिए दिया जाता है। भगवद्गीता में कहा है —

दातव्यमिति यद्दानं, दीयते ऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च, तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्॥

जो दान उस व्यक्ति को दिया जाय, जिस से हमें किसी विशेष लाभ की आशा नहीं और जो देश, काल और पात्र को को देख कर दिया जाय वह सात्त्विक दान है।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं, फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं, तद्दानं राजसं स्मृतम्॥

जो दान इस भाव से दिया जाय कि उस के बदले में मेरा कोई उपकार होगा, या किसी फल विशेष की प्राप्ति होगी, अथवा जो दान मन में क्लेश मान कर किसी दबाव से किया जाय, वह राजस दान कहलाता है।

अदेशकाले यद्दानमपात्रे यच्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं, तत्तामसमुदाहृतम्॥

कभी-कभी मनुष्य देश, काल और पात्र को देखे बिना ठग, ढोंगी, और झूठे फकीर साधु आदि अपात्र लोगों को दान दे देता है, या 'ओ, जा दफा हो' आदि अपमानसूचक शब्दों के साथ दान फेंक देता है वह तामस दान है ।

इन में से सात्त्विक दान उत्तम, राजस दान मध्यम और तामस दान निकृष्ट है। जैसा भी हो—दान लोभ का प्रतिविधान अवश्य है, क्योंकि धन की एषणा के बदले त्याग की भावना को जागृत करता है। उनमे से मन को शुद्ध करने वाला दान तो सात्त्विक दान है। जो मनुष्य सात्त्विक दान की प्रवृत्ति को परिपक्व कर लेता है, वह लोभ के चंगुल से निकल जाता है।

—

पंचम प्रकरण

लोकैषणा

लोकैषणा का सात्त्विक रूप यह है कि मनुष्य ऐसे कर्म करे, जिस से उस का नाम हो। यदि विद्वान् हो तो ऐसा कि संसार उस की विद्वत्ता की धाक माने, यदि योद्धा हो तो अजेय समझा जाय, यदि व्यवसायी हो तो उस की जितनी ख्याति धन के कारण हो उतनी ही उदारता और सभ्यता के कारण भी हो। यदि श्रमजीवी हो तो प्रमादरहित, विश्वासपात्र और समयपालक श्रमजीवी समझा जाय जिस की ओर उंगली

उठा कर लोग कहें कि 'यदि श्रमजीवी हो तो ऐसा हो।' मनुष्य ऐसा नाम पाने की इच्छा से प्रेरित रहे—यह न केवल स्वाभाविक है, जीवन की सफलता के लिये अनिवार्य भी है।

इस सात्त्विक यश की अभिलाषा का परिणाम यह होता है कि मनुष्य अच्छा बनने का यत्न करता है। अच्छा बनना और अच्छे काम करना उस का लक्ष्य हो जाता है।

यहां एक बात समझ लेनी चाहिये। जिसे हमने सात्त्विक यश की अभिलाषा कहा है इसे आदर्श न समझना चाहिये। आदर्श तो निष्काम कर्म ही है। अच्छा कर्म इसलिये किया जाय कि वह अच्छा है और कर्त्तव्य है इसलिये न किया जाय कि उस से यश, धन या आधिपत्य मिलेगा, यह निष्काम कर्म कहलाता है। भगवद्गीता में निष्काम कर्म की विशद व्याख्या की गई है। कहा है—

अनाश्रितः कर्मफलं, कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च, न निरग्निर्नचाक्रियः॥

जो मनुष्य अपने कर्मफल की अभिलाषा छोड़ कर केवल कर्तव्यबुद्धि से सत्कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी कहलाता है, संन्यासी या योगी उसे नहीं कहते जो यज्ञ या अन्य सत्क्रियाओं को छोडकर बैठ जाय।

परन्तु सब लोग सन्यासी या योगी नहीं हो सकते। उन में किसी न किसी प्रकार की महत्वाकांक्षा या सुखाकांक्षा रहती है। वह महत्वाकांक्षा यदि निर्दोष हो, यदि वह दूसरों का

दलन कर के पूरी न की जाय, तो वह मनुष्य को अच्छा बनाने का कारण बन जाती है, उसे हम सात्विक महत्वाकांक्षा कह सकते हैं।

वह लोकैषणा या महत्वाकांक्षा राजस हो जाती है, जब मनुष्य में अच्छेपन में बड़ाई प्राप्त करने की इच्छा के साथ शक्तिशाली बनने की इच्छा भी सम्मिलित हो जाती है। वह केवल इतना ही नही सोचता कि मैं ससार मे अच्छा समझा जाऊं, यह भी चाहता है कि लोग मुझे बड़ा समझे। जहां बड़ा समझा जाने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई कि मनुष्य में स्वभावत: अनेक दोष आ जाते हैं। मै बड़ा समझा जाऊ, इस के साथ यह भाव मिला हुआ है कि अन्य मुझसे छोटे समझे जायें। बस यही विष का बीज है। महान् होना बुरी बात नही, परन्तु संसार मे महान् कहलाने की इच्छा से कर्म करना बुरी बात है। उस से डाह, द्वेष, अभिमान और संघर्ष जैसे दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

जिन वीरों के साथ लोगो ने महान् शब्द लगाया है, उन के जीवनों पर दृष्टिपात करें तो उन मे अन्यों के दलन और हत्या की घटनाओं की मुख्यता दिखाई देती है। रावण को विश्व विजय करने की हवस थी, सिकन्दर पूर्व और पश्चिम का स्वामी बनना चाहता था, सीजर रोम के साम्राज्य को स्वेच्छाचारी बना कर उस का अधिपति बनना चाहता था और नैपोलियन उन सब का विजेता कहलाने वालों की कीर्ति को भी मात देना चाहता था। उन के जीवनों को पढ़ें तो उन में

आदि से अन्त तक अहकार, अत्याचार और रुधिर की धारा बहती दिखाई देती है। ये सब परिणाम राजसी और तामसी लोकैषणा के थे।

लोकैषणा तामस क्षेत्र मे प्रवेश करती है जब उस में स्वाभाविक और अकारण नृशंसता का प्रवेश हो जाता है। विजेता की सूची मे चंगेज़ खां और तैमूरलग के नाम भी सम्मिलित हैं। उन की महत्वाकांक्षा तामस थी। उन के जीवनों में कत्लेआम और स्त्रियों पर सामूहिक बलात्कार की इतनी घटनाए मिलती हैं कि पढने वाला स्तब्ध रह जाता है। प्रतीत होता है कि उन की मुख्य वासना 'रक्त पिपासा' ही रही होगी। उसे हम महत्वाकाक्षा या लोकैषणा का तामस रूप कह सकते हैं।

लोकैषणा बुरी बला है। जब अन्य सब एषणायें समाप्त हो जाती हैं तब भी लोकैषणा जागृत रहती है। उस समय वह यश की अभिलाषा के रूप मे प्रकाशित होती है। एक कवि ने राम के मुह से कहलवाया है कि--

स्नेहं दया च सौख्यं च, यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य, मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा॥

मुझे लोगों के आराधन के लिए स्नेह, दया, सुख और जानकी का त्याग करने में भी कोई दुःख न होगा। यहाँ लोकैषणा अपने अन्तिम रूप में प्रकट होती है। अपने शुभ नाम या लोकप्रियता के लिये सब गुणों और पतिव्रता की मूर्ति सीता के परित्याग का संकल्प प्रशंसनीय नहीं कहला सकता।

यश तो सिकन्दर का भी है और बुद्ध का भी है। एक का यश संहार पर आश्रित है और दूसरे का यश ससार-हित पर। ऐसी वंचक वस्तु के लिये श्रेष्ठ गुणों का बलिदान देना उत्कृष्ट कर्म नहीं कहला सकता।

वस्तुस्थिति यह है कि अन्य सब प्रकार की एषणाओं की अपेक्षा लोकैषणा की चिकित्सा अधिक कठिन है क्योंकि यह गुण का रूप धारण कर के आती है।

अच्छा बनने और उस के आधार पर यश प्राप्त करने की इच्छा सात्त्विक है। बड़ा और अच्छा बनने की इच्छा राजस है, और केवल बड़ा बनने की इच्छा तामस है।

केवल ईश्वर प्रदत्त शक्तियों अथवा परिस्थितियों के बल पर जो लोग बड़े बन जाते हैं, इतना ही नहीं कि वे अपनी कमियों को भूल जायें, प्राय: पढ़े लिखे लोग भी उन की सफलता की चमक से ऐसे चौंधिया जाते है कि बड़ाई और अच्छाई मे भेद करना छोड़ देते हैं। परिणाम यह होता है कि ऐसे लोगो पर दुरभिमान और झूठा आत्म-विश्वास सवार हो जाता है। जो उन्हें अपने और दूसरों के पतन का कारण बना देता है।

बढ़ी हुई तामस लोकैषणा का उपाय बहुत कठिन होता है। प्रसिद्ध है कि जर्मन साम्राज्य के निर्माता फ्रेडरिक महान् ने शासन के प्रथम भाग में खूब डट कर युद्ध किये, उन में सफलता प्राप्त की और जर्मन साम्राज्य स्थापित कर दिया। जब यह कार्य समाप्त हो गया तो तलवार को म्यान में डाल

लिया और शासन के उत्तर काल में उसे म्यान से नहीं निकाला। अपनी सारी शक्ति साम्राज्य को शक्तिशाली बनाने में लगाई। परन्तु संसार में फ्रेडरिक जैसे दूरदर्शी और संयमी विजेता कम ही होते हैं। भारत के प्राचीन इतिहास में रघु का दृष्टान्त ऐसा ही है, अन्यथा सामान्य रूप से तामस महत्वाकांक्षा का अन्तिम परिणाम महत्वाकांक्षी का अधःपात और विनाश ही होता है। प्रकृति के इस नियम को हृदयगत कर लेना ही बड़े बनने की अतिशय महत्वाकांक्षा की एक मात्र चिकित्सा है।

—

नवम अध्याय

मोह

प्रथम प्रकरण

मोह शब्द का अर्थ

शब्दकोश में मोह शब्द के अनेक अर्थ दिये हैं। उन में कुछेक ये हैं—

१. मूर्च्छा या बेहोशी। यथा—

तस्याः सुमित्रात्मजयत्नलब्धो,
मोहादभूत्कष्टतरः प्रबोधः।

जंगल में छोड़ी हुई जानकी को लक्ष्मण के यत्न से जब

होश आया तब मोह की अपेक्षा मोह से जागना उस के लिये अधिक कष्टदायक हुआ ।

२. संशयात्मता—किसी विषय मे सन्दिग्ध रहना। यथा—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा, त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।

अर्जुन कहता है कि हे कृष्ण ! आपकी कृपा से मेरा भ्रम नष्ट हो गया और मुझे यथार्थ ज्ञान प्राप्त हो गया है ।

३. मिथ्याज्ञान—देहादिस्वात्माभिमाने चेति वाचस्पत्य बृहदभिधाने ।

किसी वस्तु के असली रूप को न समझ कर उस से अधिक या न्यून समझना, यह भी मोह है । यथा—

तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ।

कालिदास का कथन है कि मैं अपनी शक्तियों को न जानने के कारण समुद्र को तूंबे से तैरने का यत्न करना चाहता हूं ।

४. सामान्य भाषा मे मोह शब्द का अर्थ समझा जाता है सीमा से अधिक प्रेम या ममता । वेदान्त के ग्रन्थों में तो ममता-मात्र को मोह कहा है । यथा, क्रिया योगसार मे—

मम माता मम पिता, ममेयं गृहिणी गृहम् ।
एतदत्यन्तममत्वं यत्, स मोह इति कीर्तितः ॥

यह मेरा पिता है, यह मेरी माता है और यह मेरा पुत्र है। इसी प्रकार के ममत्व की भावना अन्य सब वस्तुओं से भी रखने को मोह कहते है।

इस प्रकार शब्द शास्त्र में मोह शब्द को अनेकार्थवाची कहा जाता है, परन्तु वस्तुतः उस का मौलिक अर्थ एक ही है। उस का मौलिक अर्थ है अज्ञान। किसी वस्तु को न जानना या विपरीत जानना अज्ञान कहलाता है। ध्यान रहे कि मिथ्या ज्ञान भी ज्ञान न होने से अज्ञान या अविद्या ही है। अज्ञान स्वयं सब से बड़ा और सब का मूलभूत दोष है। वह मनुष्य जाति के समस्त शारीरिक, सामाजिक, आर्थिक, और राजनीतिक रोगों का उत्पादक है।

'तमसो मा ज्योतिर्गमय' इस वैदिक प्रार्थना में 'तमस्' शब्द से अज्ञान का निर्देश है। मनुष्य ईश्वर से सदा प्रार्थना करे कि हे प्रभु, मुझे तमस् (अज्ञान) से प्रकाश (ज्ञान) की ओर ले जाइये।

उपनिषदों में जिसे अविद्या कहा है उसे कर्त्तव्यशास्त्र की परिभाषा में मोह कहते है। कठ उपनिषद् में अविद्याग्रस्तों के सम्बन्ध में बतलाया है—

अविद्यायामन्तरे विद्यमानाः,
स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः।
दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढ़ाः
अन्धेनैव नीयमानाः यथान्धाः॥

जो लोग अविद्या के अन्धकार में भटक रहे हैं, अपने को धीर और पण्डित मानते और अभिमान करते है, वे मूर्ख ऐसे हैं जैसे अन्धे के नेतृत्व में चलने वाले अन्धे। भगवद्गीता मे कहा है—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं, तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

जब अज्ञान का पर्दा बुद्धि पर छा जाता है तब प्राणी मोह को प्राप्त होते है।

इसीलिये सब धर्माचार्यों ने मनुष्यों को अविद्यारूपी मोह से छूट कर ज्ञानरूपी प्रकाश मे प्रवेश करने का उपदेश दिया है।

—

द्वितीय प्रकरण

मोह के अनेक रूप और उन के परिणाम

कोशकारों ने मोह शब्द के जो अनेक अर्थ किए है वे वस्तुतः मोह के भिन्न-भिन्न रूपों और परिणामों के निदर्शक है। उन पर हम पृथक्-पृथक् सक्षेप से विचार करेंगे—

१ मूर्च्छा या बेहोशी मुख्य रूप से शारीरिक रोग हैं। मन या शरीर पर कोई आकस्मिक या बडा आघात पहुचने से कुछ काल के लिए शरीर की सब ज्ञानेन्द्रियें और कर्मेन्द्रियें कार्य करना छोड़ देती हैं। वह बेहोशी है। नीद में और मूर्च्छा में यह भेद है कि जहां मूर्च्छा मनुष्य को निर्बल कर देती है,

वहां नींद उसे ताज़गी देती है। इस का मुख्य कारण यह है कि बेहोशी आकस्मिक आघात से उत्पन्न होती है जिस से मनुष्य के प्रयत्न का आधार Nervous System आहत होकर सर्वथा काम करना छोड़ देता है। आघात से निर्बलता आ जाती है।

दूसरी ओर नीद शरीर और मन की थकान को दूर करने का नैसर्गिक साधन है। मन और शरीर की बड़ी से बड़ी थकान गहरी नीद से उतर जाती है। मूर्च्छा रूपी मोह मनुष्य के लिए आकस्मिक घटना है। इस से सर्वथा बचना उस के अपने बस की बात नही। फिर भी इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जिस की इच्छा शक्ति प्रबल है और Nervous System दृढ़ है, उस मे हर प्रकार के आघात को सहने की अधिक शक्ति उत्पन्न हो जाती है। जिन की ये शक्तियां प्रबल नही उन पर मूर्च्छा रूपी मोह का आक्रमण आसानी से सफल हो जाता है और प्रत्येक आक्रमण के साथ उन की प्रतिरोध शक्ति न्यून होती जाती है।

मूर्च्छा के समय प्राणी के सुख, दुःख, ज्ञान, ईर्ष्या, द्वेष-आत्मा के ये लक्षण प्रसुप्त हो जाते हैं और उस पर अन्धकार सा छा जाता है।

२. मोह का दूसरा रूप है संशयात्मता, इसे व्यामोह भी कह सकते हैं। इस का स्पष्ट और प्रसिद्ध उदाहरण महाभारत संग्राम के आरम्भ में अर्जुन का व्यामोह है। बारह वर्षों तक पाण्डवों ने जिस युद्ध का संकल्प किया है और जिस में विजय प्राप्त करने के लिये अर्जुन ने घोर तपस्या द्वारा विविध

शस्त्रास्त्र प्राप्त किये हैं, जब उस संग्राम को प्रारम्भ होने की शख ध्वनि हो रही है तब निर्बलात्मा अर्जुन अपने गुरु और सारथि से 'न योत्स्ये' मैं युद्ध नही करूगा, यह कह कर चुप हो जाता है। जब न लड़ने का कारण पूछा जाता है तो कहता है—

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः,
पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चित ब्रूहि तन्मे,
शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ॥

मुझे सूझ नही रहा है कि मै क्या करूं, क्या न करूं ? बतलाओ कि मेरे लिए क्या कल्याणकारी है। मैं शिष्य बनकर उपदेश लेने आया हूं—मुझे मार्ग दिखलाओ।

उस समय तक के संग्रामों में बड़े सग्राम का पहला तीर छूटने को है और जिस योद्धा के धनुष पर पाण्डवों की सब आशाये सन्निहित हैं वह कहता है, 'मै नहीं जानता कि क्या करूं क्या न करूं ?' मोह इस से आगे नहीं जा सकता। यदि कहीं अर्जुन जैसे निर्बलात्मा व्यक्ति को कृष्ण जैसा ज्ञानी और चतुर सारथी न मिला होता तो पाण्डवों की जो दुर्दशा होती उस का अनुमान लगाया जा सकता है। कहा है—

संशयात्मा विनश्यति।

उल्टे रास्ते पर दृढ़ निश्चय से चलने वाला भी कही न

कही पहुंच जायगा, परन्तु जो मार्ग का निश्चय नही कर सकता वह जीवन के चौराहे पर खड़ा-खड़ा ही सूख जायेगा। व्यामोह मनुष्य की सब शक्तियों को झुलस देता है। वह जीता हुआ भी मृत के समान हो जाता है।

व्यामोह के साथ निराशा आती है और निराशा आध्यात्मिक क्षय रोग है। जिस व्यक्ति पर अनिश्चयात्मक होने के कारण निराशा सवार हो जाय वह अपने आप को खो देता है। आत्महत्या की दुर्घटनाये प्रायः व्यामोह से उत्पन्न होने वाली निराशा की ही परिणाम होती हैं।

३. अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान यह मोह का सबसे अधिक व्यापक और भयानक रूप है। इसका असली विस्तार समझने से पूर्व यह जान लेना आवश्यक है कि अज्ञान तथा मिथ्याज्ञान में क्या सम्बन्ध है ?

अज्ञान का शब्दार्थ है ज्ञान का अभाव। यदि केवल शब्दार्थ पर जायें तो ज्ञान का अभाव चेतना में सम्भव ही नही। जिस में ज्ञान का सर्वथा अभाव हो, वह चेतन नही कहला सकता। वैज्ञानिक परीक्षाणों से सिद्ध हो गया है कि वृक्ष वनस्पतियों तक में परिमित मात्रा में थोड़ा बहुत ज्ञान रहता है। पशु पक्षियों में तो वह ज्ञान असन्दिग्ध रूप में विद्यमान है। मनुष्य के विषय में यह कहना कि उस मे किसी प्रकार के भी ज्ञान का सर्वथा अभाव है, सर्वथा असंगत है।

जब हम किसी को अज्ञानी कहते हैं तब हमारा यह अभि-

प्राय होता है कि उसे सत्य का ज्ञान नहीं, जो ज्ञान है वह या तो अत्यल्प है अथवा सत्य के विरुद्ध भ्रान्त विचार है।

आप एक निपट अज्ञानी कहलाने वाले वयस्क व्यक्ति की परीक्षा करके देखिये। आप उससे सरल से सरल और गूढ़ से गूढ़ विषय पर प्रश्न करके देखिये। वह कोई न कोई समाधान अवश्य देगा। पूछिये पृथिवी कैसे खड़ी है? उत्तर देगा, बैलों के सीग पर। पूछिये चाद मे काला-काला क्या है? कहेगा बुढिया चर्खा कात रही है। प्रश्न कीजिये, बरसात में कीड़े-मकौड़े क्यों निकलते हैं? तो कहेगा, शिव जी अपना आसन झाड़ देते हैं। ये एक साधारण अनपढ़ हिन्दू के उत्तर होंगे। प्रत्येक जाति और देश के सर्वसाधारण जनों मे अपने-अपने ढग के ऐसे उत्तर प्रचलित रहते हैं। यह भी बोध तो है पर उलटा बोध है। असल में मनुष्य में, जिसे हम अज्ञान कहते हैं, वह मिथ्या ज्ञान ही है। जहां शास्त्रों में भी अज्ञान शब्द का प्रयोग है वह मिथ्या ज्ञान तथा अपूर्ण ज्ञान के अर्थों में ही समझना चाहिये। मिथ्या ज्ञान स्वयं बुद्धि का मोह है और अन्य मोहों की उत्पत्ति का कारण है। सशयात्मता, अनात्मज्ञता आदि दोष मिथ्याज्ञान अथवा अधूरा ज्ञान होने से उत्पन्न होते हैं। भगवद्गीता मे कहते हैं—

अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।

जन्तुओं की बुद्धि पर अज्ञान का पर्दा पड़ जाता है, तभी उन्हें मोह ग्रस लेता है। महाभारत में बतलाया है—

लोभः पापस्य बीजोऽयम्, मोहो मूलन्तु तस्य हि।

लोभ पाप का मूल है और वह मोह से उत्पन्न होता है।

छद्म,पाषण्ड-चौराश्च, कूटाः क्रूराश्च पापिनः ।
पक्षिणो मोहवृक्षस्य, माया-शाखा-समाश्रिताः ।

छल करने वाले पाखण्डी, चोर, ठग, क्रूर और पापी ये सब मोहरूपी वृक्ष की मायारूपी शाखाओं के आश्रय पर जीवित रहते है। दम्भ आदि पापों का जनक मोह अर्थात् अज्ञान या मिथ्या ज्ञान ही है।

४. अतिशय आसक्ति—सात्त्विक प्रेम के अनेक रूप हैं—माता, पिता और अच्छे गुरु का बच्चों से प्रेम वात्सल्य कहलाता है।

पुरुष और स्त्री के समुचित प्रेम का सर्वोत्तम नाम प्रेम है।

मित्रों के प्रेम को सख्य या स्नेह कहते हैं।

अपने से बड़ों के प्रेम को भक्ति कहते हैं। जब वह प्रेम सीमा का अतिक्रमण करने लगता है, तब वह आसक्ति का रूप धारण कर लेता है। उस दशा में ममता बढ़ जाती है और मानसिक सन्तुलन नष्ट हो जाता है। सीमा से अधिक बढ़ा हुआ वात्सल्य सन्तान के नाश का कारण बन जाता है। इस का दृष्टान्त धृतराष्ट्र का अपने पुत्रों के प्रति अन्धवात्सल्य था। यदि वह दुर्योधन और दुशासन के प्रेम में अन्धा न हो गया होता तो शायद महाभारत का संग्राम टल जाता।

स्त्री और पुरुष का सीमाओं को अतिक्रमण करने वाला प्रेम, प्रेम नहीं रहता, वह वासना का रूप धारण कर लेता है। उस के दुष्परिणाम का प्रतिपादन हम इस से पूर्व कर आए हैं।

प्रेम की शीतल नदी किनारों को लांघ कर विनाश का कारण बन जाती है, यह मोह की ही महिमा है। मोह का पर्दा बुद्धि को ढक देता है। अच्छे और बुरे का परिज्ञान नही रहता। साक्षर और निरक्षर दोनो मोह के जाल मे फंस कर सन्मार्ग से विचलित हो सकते हैं। केवल पुस्तक विद्या मनुष्य को गढ़े मे गिरने से नही बचा सकती। मनुष्य की ममता की भावनाएं उचित सीमा में रहें, यह तभी सम्भव है जब वह अपनी बुद्धि पर मोह का पर्दा न छाने दे। भक्ति सर्वथा निर्दोष भावना है, परन्तु जब उस का मोह से सम्पर्क हो जाता है तब वह अन्धभक्ति का रूप धारण कर के संसार मे भयंकर द्वन्द्व का कारण बन जाती है। ईसाइयों के अन्तर्युद्ध, ईसाइयों और मुसलमानों के अन्यधर्मावलम्बियों पर आक्रमण और भारत मे द्विजातियो के अछूतों पर अत्याचार—ये सब अज्ञानरूपी मोह के दुष्परिणाम हैं।

—

तृतीय प्रकरण

अहंकार

मोहों में सब से बड़ा मोह और मिथ्या ज्ञानों में सब से

बड़ा मिथ्या ज्ञान अहकार है, क्यों कि वह संसार के बडे-बड़े कष्टों का मूल तो है ही, स्वय अहंकारी का भी नाश कर देता है। अपने सम्बन्ध मे मिथ्या ज्ञान महान् पाप है। महाभारत मे कहा है —

अन्यथा सन्तमात्मानं, यो ऽन्यथा प्रतिपद्यते ।
किं तेन न कृतम्पापं, चौरेणात्मापहारिणा ॥

जो मनुष्य स्वयं अपने आप को कुछ का कुछ समझ लेता है, उस ने कौन सा पाप नहीं कर दिया, क्यो कि उस चोर ने तो अपना स्वरूप ही हर लिया।

अहंकार कई प्रकार का होता है।

कुल का अहंकार — मै ऊचे ब्राह्मण वंश का हूं, राजवंश का हू, सय्यद हू या जागीरदार का बेटा हूं। यह कुल का अहंकार है।

धन का अहंकार — धन का मद अहंकार को उत्पन्न करता है। जो पूंजीपति श्रमी लोगों का रक्त चूस कर अपनी लक्ष्मी को बढ़ाते हैं उन में यह भावना उत्पन्न हो जाती है कि 'में महान् हूं, ये श्रमी लोग तुच्छ हैं'। वे बहुत शीघ्र 'मैं' से 'हम' और 'जनाब' से 'सरकार' बन जाते हैं।

शक्ति का अभिमान — शारीरिक अथवा भौतिक शक्ति से जो अहंकार उत्पन्न होता है वह सब से भयानक है। रावण और जरासन्ध,सिकन्दर और नैपोलियन,नादिरशाह और तैमूर-लंग को ईश्वर ने अद्भुत शक्ति प्रदान की थी। यदि उन में

शक्ति के कारण 'अहं' की असीम वृद्धि न हो जाती तो वे संसार के कल्याण का साधन बन सकते थे। अहंकार ने उन्हे अभिशाप बना दिया।

विद्या का अभिमान — विद्या का स्वाभाविक परिणाम यह होना चाहिये, कि मनुष्य विनयी बने। 'भवन्ति नम्रास्तरवः फलोद्गमैः': फलों के बोझ से वृक्ष झुक जाता है। विद्या के कारण मनुष्य में यह बोध उत्पन्न हो जाना चाहिए कि बड़प्पन की कोई सीमा नही। ज्ञानसागर का पारावार किसी ने नही पाया। हम सब ज्ञानसागर के तट पर इस आशा से घूमते हैं कि सीपियों मे से शायद कुछ रत्न मिल जांय। कभी मिल भी जाते हैं, परन्तु अथाह सागर के अनगिनत रत्नभण्डार के सामने वे तुच्छ हैं। फिर भी कभी कभी विद्वान् मनुष्य के हृदय में भी अहंकार का उदय हो जाता है।

इस प्रकार अहंकार के प्रकार और स्पष्ट कारण अनेक हैं परन्तु उस का मूल कारण एक ही है और उस के नाम हैं- अज्ञान, मिथ्याज्ञान या मोह।

. यदि मनुष्य थोड़े से विवेक से काम ले तो उसे प्रतीत हो जायगा कि इस संसार में मनुष्य के लिए अहंकार करने का कोई आधार नही है। अतीत, वर्तमान और भविष्य – तीनों काल मनुष्य को अहंकार की निर्मूलता का उपदेश देते हैं।

अतीत काल पर दृष्टि डालिये। इतिहास का पाठ बतलाता है कि अहंकार का सिर सदा नीचा हुआ। बड़े बड़े अहंकारियों को भवितव्यता के सामने हार माननी पड़ी है। रावण

का दावा यह था कि —

यदि माम्प्रति युध्यन्ते, देवगन्धर्वदानवाः ।
नैव सीताम्प्रदास्यामि, सर्वलोकभयादपि ।।

यदि देव, गन्धर्व और दानव सब मिल कर लड़ने आये और सारी दुनिया भय दिखाए तो भी सीता को देने वाला नही हूं । वह रावण सत्य पर आरूढ़ राम के अस्त्र का ग्रास हो गया ।

नैपोलियन जब शक्ति के शिखर पर पहुच गया, तब उस ने एक बार कहा था कि जब तक मै अपने मिशन को पूरा नहीं कर लेता तब तक कोई मानवी शक्ति मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकती । वह मिशन था सारे योरोप पर नैपोलियन वंश का अधिपत्य । इस अभिमान भरे वाक्य का अन्त कहां हुआ ? सेण्ट हेलीना में, जहां सम्राट् नैपोलियन एक अनाथ कैदी की दशा में तड़प तड़प कर मर गया ।

अहकार का विष बड़े से बड़े बलशाली को नष्ट कर देता है ।

परिस्थिति का सावधानता से निरीक्षण मनुष्य की मति को सन्तुलित कर देता है । एक नीतिकार ने कहा है —

अधोऽधः पश्यतः कस्य, महिमा नोपचीयते ।
उपर्युपरि पश्यन्तः, सर्व एव दरिद्रति ।।

मनुष्य अपने नीचे की ओर देखे तो अपने को ऊंचा समझने लगता है, परन्तु यदि सब लोग अपने से ऊपर की ओर दृष्टि डाले तो वे अपनी दरिद्रता (कमी) का अनुभव करने लगेंगे। धन, बल और विद्या की कोई इयत्ता नहीं है। पृथ्वी पर एक से बढ़ कर दूसरा शक्ति सम्पन्न व्यक्ति विद्यमान है। ऐसी दशा में अभिमान कैसा ? यों तो अपने घर मे प्रत्येक पुरुष राजा और स्त्री रानी है, परन्तु यदि सारे मनुष्य समाज को देखें तो किसी को सब से बड़ा कहना सम्भव नही। एक ही सन्तति में पृथ्वी पर बड़ों को छोटे और छोटों को बड़े होते देखा है। जापान ने रूस को परास्त किया तो प्रतीत होता था कि वह इङ्गलैण्ड की टक्कर का शक्तिशाली देश हो जायगा। कुछ वर्ष पश्चात् वही जापान अमरीका का एक विजित देश सा बन गया था और रूस अमरीका से होड़ ले रहा था। उन्हीं लोगों ने जर्मनी को दो वार ख्याति की चोटी पर चढ़ते और दो वार पराजय के गढ़े मे पड़े देखा। जब बड़प्पन इतना अस्थिर है तो अभिमान किस वस्तु पर किया जा सकता है ?

मनुष्यमात्र के भविष्य मे मृत्यु का संयोग लिखा हुआ है। उसे न विद्वान् टाल सकता है और न विजेता। मृत्यु से सब को हार माननी पड़ती है। तब अहंकार कैसा ? जब राजा मुंज ने अपने मन्त्रियों को बालक भोज की हत्या करने के लिए जंगल में भेजा था, तब भोज ने मन्त्रियों के हाथ राजा को सन्देश भेजा था, वह मनुष्यमात्र के याद रखने योग्य है। उस

ने यह पद्य भेजा था —

मान्धाता स महीपतिः कृतयुगालंकारभूतोगतः,
सेतुर्येन महोदधौ विरचितः क्वासौ दशास्यान्तकः।
अन्ये चापि युधिष्ठिरप्रभृतयो याता दिवम्भूपते,
नेकेनापि समं गता वसुमती, मन्ये त्वया यास्यति ।।

सतयुग को शोभायमान करने वाले मान्धाता का अन्त हो गया। जिस ने समुद्र पर पुल बांध कर दशानन का नाश किया था वह राम कहां है और अन्य भी युधिष्ठिर आदि राजा स्वर्ग को चले गये, परन्तु हे राजन्, यह पृथिवी किसी के साथ नहीं गई, तुम्हारे साथ जायगी। ऐसी अस्थिर वस्तु के लिये अहंकार कैसा ? यदि इस सत्य पर मनुष्य का ध्यान रहे तो वह कभी अभिमान नहीं कर सकता।

'सिकन्दर के हाथ दोनों, खाली कफन से निकले।'

यह उक्ति किसी वैरागी की नहीं, ससार की दशा का यथार्थ ज्ञान रखने वाले की है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मनुष्य अतीत, वर्तमान और भविष्य पर तात्विक दृष्टि से विचार करे तो वह कभी अहंकार के माया जाल में नहीं फंस सकता। अहंकार एक माया जाल है क्यो कि वह मनुष्य को अपने मे फंसा कर विनाश के गढ़े मे डाल देता है। जो लोग अहकार रोग के रोगी होते हैं, उन के सम्बन्ध मे भगवद्गीता में कहा है —

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योस्ति सदृशोमया।
यक्ष्येदास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिता:।
अनेकचित्तसम्भ्रान्ता मोहजालसमावृता:।
प्रसक्ता: कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।

—

चतुर्थ प्रकरण

मोह का प्रतीकार—यथार्थ ज्ञान

मनुष्य के अनेक आन्तरिक शत्रुओं को जन्म देने वाले मोहरूपी अज्ञान का एक ही शामक औषध है, और वह है यथार्थ ज्ञान, जिस के विद्या, प्रबोध आदि अनेक नाम हैं।

तमसो मा ज्योतिर्गमय

हे प्रभु ! मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले जाओ। यह वैदिकी प्रार्थना मनुष्य को प्रतिदिन करनी चाहिये। अज्ञान अन्धकार है और ज्ञान प्रकाश है।

यथार्थ ज्ञान को पाने का साधन, अच्छी बुद्धि है। धी, मेधा आदि शब्द उस के पर्यायवाची हैं। गायत्री मंत्र द्वारा हम परमात्मा से भी सद्बुद्धि की प्रार्थना करते हैं।

याम्मेधान्देवगणा: पितरश्चोपासते।
तया मामद्यमेधयाऽग्ने मेधाविनं कुरु॥

इस मन्त्र मे प्रभु से प्रार्थना की गई है कि वह मेधा हमें प्रदान करे जिस की उपासना विद्या में वृद्ध और आयु में वृद्ध गुरु लोग करते है।

मोह के नाश का साधन है—यथार्थ ज्ञान। केवल ज्ञान शब्द से भी यथार्थ ज्ञान का बोध होता है।

यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने का साधन है—बुद्धि, धी, मेधा।

सद्बुद्धि

का जो स्थान है, उस का निर्देश कठोपनिषद् की निम्नांकित कारिकाओं मे स्पष्ट रूप से किया गया है—

> आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
> बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि, मनः प्रग्रहमेव च॥
> इन्द्रियाणि हयानाहुः, विषयांस्तेषु गोचरान्।
> आत्मेन्द्रिय मनोयुक्तं, भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

शरीर रथ के समान है, आत्मा उस का स्वामी है। इन्द्रियें रथ के घोड़े हैं, बुद्धि सारथि है जो मन रूपी लगाम द्वारा घोड़ों का संचालन करता है। इस रथ के प्राप्तव्य स्थान हैं विषय। इन्द्रिय और मन के संयोग में आने वाले आत्मा को तत्त्वदर्शी लोग भोक्ता कहते हैं। इस मनुष्य रूपी रथ का सारथि बुद्धि है। यदि सारथि कुशल, सावधान और स्वामिभक्त है तो रथ को ठीक मार्ग पर चलाता रहेगा, परन्तु यदि

वह अनाड़ी, लापरवाह और स्वामिभक्ति से शून्य हुआ तो या तो रथ को कहीं का कहीं ले जायगा या किसी गढ़े में डाल कर चकनाचूर कर देगा।

मनुष्य को स्वभाव से जो शक्तियाँ मिलती हैं, उन का सदुपयोग हो तो मनुष्य अपने लिये और संसार के लिये कल्याणकारी होता है परन्तु यदि उन का दुरुपयोग हो तो वह सब के लिये अभिशाप बन जाता है। सदुपयोग और दुरुपयोग बुद्धि पर अवलम्बित है।

सद्बुद्धि प्राप्त करने के उपाय

अच्छी बुद्धि की प्राप्ति के मुख्य रूप से चार साधन हैं। इन साधनों की इस ग्रन्थ में अन्यत्र व्याख्या हो चुकी है। वे साधन ये हैं—

१. **स्वात्म चिन्तन**—मनुष्य अपने अन्दर विवेक भरी दृष्टि डाल कर सदा देखता रहे कि मेरी बुद्धि मे क्या दोष है, और क्या कमी है ? बुद्धि के सुधार का सब से श्रेष्ठ साधन प्रतिदिन स्वात्मचिन्तन है।

२. **सत्सङ्ग**—दूसरा साधन श्रेष्ठ पुरुषों का संग है। मनुष्य जड़ पदार्थ नहीं है कि अपने आस-पास के वातावरण से प्रभावित न हो। वह चेतन है और वायुमण्डल के हलके से हलके झोकों से प्रभावित होता है। सङ्ग उसे बनाता और बिगाड़ता है। दुष्टों की सङ्गति से बुद्धि बिगड़ती है और सज्जनों की सङ्गति से सुधरती है।

३. स्वाध्याय—शिक्षादायक और सात्विक ग्रन्थों के अध्ययन से बुद्धि का परिष्कार होता है। जिन लोगों को घटिया दर्जे का और गन्दा साहित्य पढ़ने की आदत पड़ जाती है, उन की बुद्धि में मलिनता का आना अवश्यम्भावी है। ससार के तरह-तरह के धन्धों से भरे हुए अपने जीवन का कुछ समय आत्मा को उन्नत करने वाले शिक्षादायक साहित्य के अनुशीलन में अवश्य लगाना चाहिये। कुछ लोग समझते हैं कि केवल श्लोको या आयतों का रटना स्वाध्याय है, उन के अर्थ समझ में आयें या नही। वह भूल है। स्वाध्याय उस अध्ययन को कहते हैं जो समझ कर किया जाय। धर्मशास्त्रों और जीवन को सन्मार्ग दिखाने वाले ग्रन्थों का बुद्धिपूर्वक अध्ययन स्वाध्याय कहलाता है, वह बुद्धि को परिमार्जित और सुसंस्कृत करने का अचूक साधन है।

४. प्रार्थना—प्रार्थना में बड़ा बल है। प्रार्थना किसी भाषा मे हो और किन्हीं शब्दों में हो, यदि वह समझ कर की जाय और हार्दिक हो तो उस से मनुष्य को शारीरिक शक्ति मिलती है। अनुभवी तत्त्ववेत्ताओं का मत है कि प्रार्थना सुनी जाती है। इस का अभिप्राय यह है कि यदि प्रार्थना अन्तरात्मा से की जाय तो वह मनुष्य में बुराइयों के ऊपर उठने का सामर्थ्य उत्पन्न करती है। जो केवल शाब्दिक प्रार्थना है, या केवल समय की कठिनाई से घबराकर की जाती है वह उतनी सफल नहीं होती जितनी वह प्रार्थना जो शुभ संकल्प का परिणाम है और हृदय से निकली हुई है।

ईश्वर सर्वान्तिर्यामी है। मनुष्य औरों को धोखा दे सकता है, अपने आप को भी धोखा दे सकता है परन्तु ईश्वर को धोखा नहीं दे सकता। जो लोग हृदय में पश्चात्ताप या विश्वास की भावना न रखकर केवल शब्दों से ईश्वर को ठगना चाहते हैं, वे अपने पाप के बोझ को बढ़ा लेते हैं। इसके विपरीत जो मनुष्य श्रद्धा और विश्वास के भाव से प्रेरित होकर परमात्मा से सद्बुद्धि की प्रार्थना करता है, उसे सद्बुद्धि अवश्य मिलती है। सच्चे हृदय से की गई प्रार्थना सद्बुद्धि का परिणाम भी है, साधन भी।

—

पंचम प्रकरण

ज्ञान प्राप्ति के साधन

मनुष्य शिशु अवस्था से ही ज्ञान प्राप्त करने लगता है। सर्वथा प्रारम्भिक ज्ञान सर्वथा स्वभाव से प्राप्त होता है। उसे हम **नैसर्गिक ज्ञान** कह सकते हैं। बच्चा मां को पहिचानता है यह नैसर्गिक ज्ञान है। धीरे-धीरे उसका ज्ञान बढ़ने लगता है, यह अनायास ही हो जाता है।

कुछ बड़ा होने पर वह अनुकरण से ज्ञान प्राप्त करने लगता है। जैसे शब्द सुनता है वैसे बोलने लगता है। अपने से बड़ों की वेशभूषा और गतिविधि का अनुसरण करता है। अनुकरण करने की शक्ति भी नैसर्गिक है, इस कारण अनुकरण से प्राप्त किया हुआ ज्ञान भी नैसर्गिक ज्ञान का ही दूसरा रूप है।

बालक को यत्नपूर्वक ज्ञान देने वाले गुरू तीन हैं। वे तीन हैं—माता, पिता और आचार्य।

मातृमान् पितृमान् आचार्यवान् पुरुषो वेद।

मनुष्य क्रमशः माता, पिता और आचार्य से विद्या (ज्ञान) प्राप्त करता है।

माता बच्चे को प्रेम से शिक्षा देती है, पिता अनुशासन से शिक्षा देता है, और आचार्य को शिक्षा देने के लिये प्रेम और अनुशासन दोनो का प्रयोग करना पड़ता है। अपना आचार-व्यवहार माता, पिता और आचार्य तीनो के लिये शिक्षा देने का सामान्य साधन है। इस प्रकार माता, पिता और आचार्य (गुरू) प्रेम, अनुशासन और निज व्यवहार से बालक बालिकाओं को शिक्षा देकर ज्ञान रूपी अमृत का पान कराते हैं।

यह ध्यान में रखना चाहिये कि केवल पुस्तकज्ञान ही ज्ञान नहीं है। जल का दूसरा नाम अमृत है। वस्तुतः वही जल अमृत है जो पिया जा सके। समुद्र का खारा जल पीने योग्य न होने से अमृत नही कहला सकता। इसी प्रकार जो ज्ञान व्यवहार योग्य हो, चाहे वह पुस्तकों से प्राप्त हो, वाणी से उपलब्ध हो या व्यवहार से सीखा जाय, वही सच्चा ज्ञान कहलाता है। भगवद्गीता में कहा है—

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

ज्ञान के सदृश पवित्र कोई वस्तु नहीं। ठीक भी है, क्योंकि

सब श्रेष्ठ वस्तुओं की प्राप्ति का साधन ज्ञान है।

उपनिषत्कार बतलाते हैं —

विद्यया अमृतमश्नुते

विद्या से मनुष्य अमृतत्व को प्राप्त होता है।

इन शास्त्रीय वाक्यों में ज्ञान या विद्या शब्द से केवल पुस्तक विद्या का ग्रहण नहीं होता। माता-पिता से, गुरुओं से, पुस्तकों से और अपने अनुभव और विवेक से जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह मन के मोह को नष्ट कर देता है और सच्चा रास्ता दिखा कर मनुष्य के अभ्युदय और निःश्रेयस का साधन हो जाता है।

ज्ञान की प्राप्ति में आयु की कोई सीमा नहीं है। मनुष्य जब तक जीता है तब तक सीखता है। यह संसार विस्तृत पाठशाला है जिस में आंखें खोल कर चलने वाला व्यक्ति मृत्युपर्यन्त नये-नये पाठ पढ़ सकता है। केवल पुस्तक-विद्या भी पाठशाला में समाप्त नहीं हो सकती। जो व्यक्ति जीवन भर स्वाध्याय करता रहता है, वह वस्तुतः जन्मभर ऋषियों, तत्त्ववेत्ताओं और महापुरुषों के सत्सग से लाभ उठाता रहता है। फारसी का एक मुसहिरा है —

पीर शौ बिया मोज़।

बूढ़ा हो, फिर भी सीख। बुद्धि का कपाट विद्या के लिए सदा खुला रखना चाहिये। उसी से मनुष्य काम, क्रोध, लोभ, मोह—इन चार शत्रुओं के आक्रमण से सचेत रह सकता है

और उन्हें अपने अन्दर आने से पहले ही रोक सकता है।

श्रद्धा और ज्ञान

एक बात सदा स्मरण रखनी चाहिये। ज्ञान प्राप्त करने के लिए मनुष्य के हृदय मे श्रद्धा का होना आवश्यक है। श्रद्धा और ज्ञान एक दूसरे के पूरक हैं। श्रद्धा के बिना सत्य का ज्ञान प्राप्त नही हो सकता और ज्ञान के बिना श्रद्धा अन्धी हो जाती है। श्रद्धा और आस्था के बिना सत्य तक पहुचना असम्भव है और सत्य के जाने बिना जो मनुष्य भक्त बन जाता है वह अन्धे के पीछे चलने वाले अन्धे की तरह गढ़े मे गिरने से नहीं बच सकता।

इस प्रकार हम इस परिणाम पर पहुचते हैं कि काम, क्रोध लोभ तथा मोह से उत्पन्न होने वाले रोगो से बचने और छूटने के लिये सच्चे ज्ञान को प्राप्त करना आवश्यक है और सच्चे ज्ञान की प्राप्ति करने के लिए हृदय मे श्रद्धा, आस्था और लगन का होना अनिवार्य है।

—

दशम अध्याय

आध्यात्मिक चिकित्सक के लिये निर्देश

चिकित्सा संभव है

आध्यात्मिक रोगों के सम्बन्ध में सब से पहली और प्रमुख जानने योग्य बात यह है कि उन सब की चिकित्सा सम्भव है।

शारीरिक चिकित्साशास्त्र के विद्वान् बतलाते हैं कि एक मृत्यु को छोड़ कर किसी भी मर्ज को लाइलाज समझना भूल है। सब रोगों का पूरा या थोड़ा बहुत शमन हो सकता है। इसी प्रकार यह अनुभव–सिद्ध सत्य है कि कोई आध्यात्मिक रोग भी असाध्य नही है। इस सत्य के ऐतिहासिक तथा वर्तमान अनुभव से सिद्ध अनगिनत दृष्टान्त मिलते हैं कि घोर से घोर पापी मनुष्य सामयिक परामर्श सत्संग या किसी असाधारण गुरु को पाकर न केवल पाप के मार्ग को छोड़ने में सफल हो गये, ऋषि-मुनि और सेण्ट तक की पदवी को पहुच गये हैं। जो व्यक्ति एक दिन घोर डाकू समझा जाता था, वह बल्मीकि मुनि के रूप में परिणत होकर संसार के सब से बड़े धार्मिक ऐतिह्य ग्रन्थ बाल्मीकि रामायण का कर्त्ता बन गया। ईसाई धर्म के इतिहास मे अनेक अपराधियों के सेण्ट बनने के वृतान्त मिलते हैं। महात्मा बुद्ध के सत्संग से एक वेश्या ने श्रेष्ठ श्रमणी की पदवी प्राप्त कर ली। वर्तमान काल मे बड़े से बड़े अपराधियों के जीवन-सुधार के दृष्टान्त मिलते हैं। बुरे से बुरे मनुष्य के हृदय के किसी एक कोने में कोई न कोई सद्भावना का बीज छुपा रहता है जो अनुकूल परिस्थिति पाने पर अंकुरित हो जाता है। बहुत से प्रसिद्ध डाकुओं मे उदारता पाई जाती है, कई चोरों को सच्चा प्रेम पाप मार्ग से छुड़ा देता है, अनेक धन के लोभी अनुभव की चोट खाकर सर्वत्याग करते देखे गये हैं। इस प्रकार मनोविज्ञान की सहायता से हम प्रत्येक पाप वासना के साथ बंधा हुआ कोई न कोई ऐसा सद्भावना

का बीज खोज सकते हैं, जिसे सींच कर अंकुरित और पल्लवित किया जा सके।

रोगी के प्रति सहानुभूति

चिकित्सक का सब से बड़ा गुण है सहानुभूति। उसे रोगी से पूरी सहानुभूति हो तभी वह उसे रोगमुक्त कर सकता है। रोग से शत्रुता और रोगी से प्रेम — यह सच्चे चिकित्सक का चिन्ह है। योग्य चिकित्सक न रोगी से घृणा कर सकता है और न उपेक्षा। उस का प्रेरक भाव होना चाहिए रोगी की हितैषिता, और कार्यशैली होनी चाहिये सहृदयता से पूर्ण।

मान लीजिये कोई चोरी के अपराध में पकड़ा हुआ ११-१२ वर्ष का बालक आप के पास सुधार के लिए भेजा जाता है। आप उस के आध्यात्मिक रोग—चोरी करने की प्रवृत्ति—का इलाज करना चाहते हैं। सब से पहली बात यह होनी चाहिये कि आप उसे चोर समझ कर घृणा का पात्र न समझें अपितु परिस्थितिवश चोर बना हुआ रोगी समझें। आप के हृदय में उस के प्रति सहानुभूति हो, छुटपन या उपेक्षा का भाव न हो।

अपराध और अपराधियों के इतिहास में ऐसे सैकड़ों दृष्टान्त मिलते हैं जिन में सहानुभूति ने अपराधियों का कायापलट कर दिया है और ऐसे दृष्टान्तों की भी कमी नहीं जिन में सहानुभूति के अभाव में भले मानुस अपराधी बन गये हैं।

कारणों की परीक्षा

शरीर के रोगों के चिकित्सक की तरह आध्यात्मिक रोगी

के चिकित्सक को भी चिकित्सा प्रारम्भ करने से पूर्व रोग का निदान करना चाहिये, उसे जानना चाहिये कि असल में रोग क्या है और यह भी जानना चाहिये कि उस रोग का कारण क्या है ?

मान लीजिये, कोई व्यक्ति आत्म हत्या का प्रयत्न करने के अपराध में पकड़ा जाता है और आप के पास चिकित्सा के लिये भेजा जाता है। यह भी हो सकता है कि वह व्यक्ति आप के परिचितों में से ही हो। आपको सब से पहला काम यह करना होगा कि आप उस प्रवृत्ति के कारणों की खोज करें और रोग की तह तक पहुंचें।

इस प्रकार के रोग कई कारणों से उत्पन्न होते हैं। सब से प्रथम तो यह देखना चाहिये कि कोई शारीरिक कारण तो नहीं है ? यह अनुभवसिद्ध बात है कि जिन लोगों को प्रायः कब्ज़ की शिकायत रहती है उन के मन पर उदासी छाई रहती है जो निराशा की प्रवृत्ति को जन्म देने वाली है। वे संसार के काले पहलू पर अधिक ध्यान देते हैं और बहुत शीघ्र इस परिणाम पर पहुंच जाते हैं कि दुनिया बुराई से भरी हुई है, उस में भलाई केवल भ्रम है। आत्महत्या की प्रवृत्ति का जन्म ऐसी निराशाभरी मनोवृत्ति से होता है। समझदार चिकित्सक का पहला कर्तव्य है कि वह ऐसे मानसिक रोगी की शारीरिक दशा को सुधारे, उचित भोजन तथा औषध प्रयोग द्वारा उस के कोष्ठ की बद्धता को दूर करे।

आत्महत्या की प्रवृत्ति का दूसरा शारीरिक कारण यह

भी हो सकता है कि मादक द्रव्यों के सेवन अथवा अन्य भौतिक कारणों से ज्ञान तन्तुओं मे निर्बलता आ गई हो। Nervous Breakdown से मन में इतनी निर्बलता आ जाती है कि मनुष्य की विचारशक्ति का सन्तुलन नष्ट हो जाता है। अत्यन्त शारीरिक थकान के कारण भी ज्ञानतन्तु निर्बल हो जाते हैं। यदि यह दशा हो तो हानिकारक वस्तुओ का परित्याग और विश्राम आवश्यक हो जाता है।

आत्महत्या की प्रवृत्ति के मानसिक कारण भी अनेक प्रकार के हो सकते हैं। उन मे से एक प्रकार के कारणों का सम्बन्ध उपचेतना से समझा जाता है। कुछ वर्षों से पश्चिम मे मनोविज्ञान शास्त्र के क्षेत्र मे एक नयी प्रक्रिया का उद्भव हुआ है जिसे Psycho-Analysis कहते हैं। इस प्रक्रिया का उद्देश्य मानसिक भावों का विश्लेषण करना है। इस प्रक्रिया को हम भारत की शास्त्रीय परिभाषा में संस्कारों का विश्लेषण कह सकते हैं।

आत्मा तीन अवस्थाओ मे रहता है। अवस्थाए ये हैं—

१. **अचेतन**—जब वह पूरी तरह सो जाता है या बेहोश हो जाता है। वह दशा सुषुप्ति कहलाती है।

२. **चेतन**—जब वह पूरी तरह जागृत होता है। वह जो कुछ करता है, सोच समझ कर करता है।

३. आत्मा की एक तीसरी भी अवस्था रहती है जब वह आधा चेतन रहता है। उस समय पूर्व या वर्तमान बाह्य संस्कारो के वश में होने के कारण ऐसी चेष्टाये करता है जिन्हें

उपचेतना का परिणाम कह सकते हैं। उन चेष्टाओं के प्रेरक कारण संस्कार होते हैं। मनुष्य के अनेक आध्यात्मिक, मानसिक और शारीरिक रोगों का कारण यह अर्धजागृत मनोवृत्ति रहती है।

एक कथा प्रसिद्ध है। एक देहाती आदमी बम्बई का बन्दरगाह देखने गया। वहां उसे रुई से भरा हुआ माल का जहाज दिखाया गया। उस ने कभी इतनी अधिक मात्रा में रुई नहीं देखी थी। वह बोल उठा, 'इतनी रुई! इसे कौन कातेगा और कौन बुनेगा?' ये प्रश्न उस के मन पर सवार हो गये और रात-दिन वह यही रटने लगा, 'इसे कौन कातेगा, और कौन बुनेगा?' जब घर वापिस आकर भी वह यही रट लगाता रहा तो गांव के स्यानों को निश्चय हो गया कि वह पागल हो गया है। वे लगे उस पर झाड़-फूक का प्रयोग करने, पर उस का रोग टस से मस न हुआ। अकस्मात् एक वार वहां एक समझदार आदमी आ गया। उस ने जब पागल होने की कहानी सुनी तो उसे रोग के कारण तक पहुंचने में देर न लगी। वह रोगी के कान के पास मुंह ले जाकर बोला, 'सुनो भाई, मैं कुछ दिन हुए बम्बई गया था। वहां रुई का भरा हुआ एक जहाज देखा। उस में आग लग गई।' यह सुन कर रोगी रोगशय्या को छोड़ कर एक दम खड़ा हो गया और बोला—'चलो झगड़ा खत्म हो गया।' यह कह कर वह बिलकुल स्वस्थ हो कर कामकाज में लग गया।

मन की गति को न समझने वाले लोगों ने जिसे पागल

बना दिया था, समझदार व्यक्ति ने उसे छोटे से प्रयोग से स्वस्थ कर दिया। बहुत से बाह्य प्रभाव ऐसे हैं जो अनजाने में चुपके से मन पर पड़ जाते हैं और ज्ञान और क्रिया के तन्तुओं को उलट-पुलट या विक्षुब्ध कर देते हैं। परिणाम यह होता है कि मनुष्य के जीवन की गाड़ी पटरी से उतर जाती है। कोई उसे रोगी कहने लगता है, कोई उसे मेनियक या पूरा पागल मान लेता है।

इसी प्रकार काम, क्रोध आदि दोषों के बढ़ाने में, अनजाने में पड़ने वाले प्रभावों और कभी-कभी स्वप्नों तक का हिस्सा होता है। राजा हरिश्चन्द्र के जीवन की सब से बड़ी सनसनी-पूर्ण घटना का मूल कारण एक स्वप्न था। कंस के अत्याचार-पूर्ण जीवन का आरम्भ भी सम्भवतः उस स्वप्न से हुआ होगा जिस में उस ने नारद मुनि से यह सुन लिया था कि देवकी का पुत्र तुम्हारे नाश का कारण होगा। किसी को देखते ही मन में उस के प्रति गहरी घृणा हो जाती है और किसी के प्रथम दर्शन में ही प्रेम हो जाता है, जिसे तारामैत्रचक्षूराग कहते हैं। आंखें मिलीं और अन्धा प्रेम हो गया। ये सब उन वर्तमान और पूर्वजन्म के प्रभावों के परिणाम हैं जो अनजाने में हम पर पड़ कर अंकित हो गये हैं। बहुत से आध्यात्मिक रोग उन्हीं से उत्पन्न होते या बढ़ जाते हैं। चतुर चिकित्सक का कर्त्तव्य है कि पहले उन्हें परखने का यत्न करे, तब उपायों का प्रयोग करे। रोग का ठीक-ठीक समझना जितना आवश्यक है, उस के कारणों का ठीक-ठीक जानना उस से कुछ कम

आवश्यक नही ।

रोगी को कभी निरुत्साहित न करे

यह एक सर्वसम्मत और अनुभव सिद्ध सचाई है कि जब तक मनुष्य का अन्त समय नही आ जाता, कोई रोग असाध्य नहीं होता। सब से भयकर रोग कैन्सर समझा जाता है, उस के रोगी भी चिरकाल तक जीते और कभी-कभी रोगमुक्त तक होते देखे गये हैं। रोग शारीरिक हो, या आध्यात्मिक हो, अच्छा चिकित्सक उसे कभी असाध्य नही समझ सकता और न कह सकता है। कुछ चिकित्सक रोगियों को सावधान करने के लिए उसे डराना आवश्यक समझते हैं। श्रीनगर मे हम एक चिकित्सक से मिले। उस के पास हम साँस के एक रोगी को लेकर गये। उस समय रोगी को ९९ डिग्री का ज्वर था। डाक्टर साहब मैडिसन की एक बहुत बड़ी किताब उठा लाए और उस मे दिए हुए चार्टों की सहायता से यह समझाने का यत्न किया कि यदि इसी समय कोई उपाय न किया गया तो बहुत शीघ्र फेफड़ों मे क्षयरोग का प्रवेश हो जायगा जो निश्चित रूप से मृत्यु का कारण होगा। रोगी पर उस उपदेश का यह असर हुआ कि ज्वर तीन डिग्री बढ़ गया परन्तु वह मानसिक ज्वर शीघ्र ही उतर गया। वह रोगी ईश्वर की कृपा से अब तक जीवित है और मजे मे है।

ऐसे अध्यापक भी देखे गए हैं जो शरारती बच्चे के बाप को चेतावनी दे देते हैं कि तुम्हारा बच्चा इतना बुरा है कि या तो जेल में चक्की पीसेगा या फांसी पर लटकाया जायगा। जिस

बालक के बारे में मास्टर जी की यह भविष्यवाणी हुई थी, वे कभी-कभी अपने भावी जीवन में अत्यन्त सफल और यशस्वी होते देखे गये हैं। । जो चिकित्सक डरा कर इलाज करना चाहता है, वह चिकित्सक कहलाने के योग्य नहीं। वह कभी-कभी अनन्त बुराई का कारण बन जाता है। उस की भविष्य-वाणी ही रोग को बढ़ाने का कारण बन जाती है।

चिकित्सक का कर्य है कि वह रोगी के मन में आशा का संचार करे और उसे नीरोग होने के लिए प्रोत्साहित करे। मन में आशा का संचार होने से रोगी का आधा रोग दूर हो जाता है।

पथ्य—सादा और सात्विक जीवन

आध्यात्मिक रोगों से बचने और रोगों के आ जाने पर उस से छूटने के लिए जीवन सम्बन्धी पथ्य आवश्यक है। आयुर्वेद में कहा है —

पथ्ये सति गदार्तस्य, किमौषधनिषेवणैः।
पथ्येऽसति गदार्तस्य, किमौषधनिषेवणैः॥

यदि मनुष्य पथ्य (परहेज) से रहे तो दवा की आवश्यकता ही न होगी और यदि पथ्य का पालन न करे तो दवायें उसका क्या बना सकेंगी ? दवाएं व्यर्थ जायेंगी और उस का रोग छूटेगा नही।

आध्यात्मिक पथ्य क्या है ?

सादा और सात्विक जीवन ही असली पथ्य है।

सादा और सात्विक जीवन क्या है, यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है क्योकि प्राय: लोग इस में भ्रान्ति के शिकार हो जाते हैं।

कुछ लोग समझते हैं कि सात्विक जीवन व्यतीत करने के लिए भोजन का त्याग या उस का ह्रास अत्यन्त आवश्यक है। कभी वे अन्न छोड़ कर बेल खाने लगते हैं तो कभी जल-वायु पर जीवित रहने का यत्न करते हैं। यह सात्विक भोजन नही है। भगवद्गीता में कहा है —

आयु:सत्त्वबलारोग्य,सुखप्रीतिविवर्धना: ।
रस्या: स्निग्धा:स्थिरा: हृद्या:, आहारा: सात्त्विकप्रिया:।
कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्षणरूक्षविदाहिन: ।
आहारा राजसस्येष्टा:, दुख:शोकमयप्रदा: ।।
यातयामं गतरसं, पूतिपर्युषितञ्च यत् ।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं, भोजनं तामसप्रियम् ।।

आयु, बुद्धि, बल, नीरोगता, सुख और प्रीति को बढ़ाने वाले रस-युक्त, चिकने, स्थिर और मन को भाने वाले भोजन सात्त्विक कहलाते हैं।

कड़वे, खट्टे, अत्यन्त नमकीन, अत्यन्त गर्म, तीखे, रूखे, पेट को जलाने वाले भोजन राजस होते हैं। वे दु:ख, शोक और भय को उत्पन्न करते हैं।

अधपका, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी और जूठा भोजन तामस

कहलाता है। वह मनुष्य की बुद्धि को मलिन करता है।

तप भी तीन प्रकार का है —

ब्रह्मचर्य, अहिंसा, शुद्धि, सरलता, गुरुओं और विद्वानो की पूजा सात्विक तप है। मीठा और सत्य बोलना वाणी का सात्विक तप है।

सत्कार और आदर प्राप्त करने के निमित्त से छल द्वारा किया गया तप राजस कहलाता है।

मूर्खता से, शरीर को पीड़ा देने के लिए अथवा दूसरे को कष्ट देने या दबाने के लिए किया गया उपवास या शरीर को स्वयं पीड़ा देने के रूप में जो तप का नाटक किया जाता है, वह तामस तप है।

दान भी तीन प्रकार का होता है —

देश, काल और पात्र को देख कर प्रत्युपकार की भावना न रख कर अधिकारी को जो दान दिया जाता है वह सात्विक कहलाता है।

प्रतिफल की आशा से या दबाव के कारण जो दान दिया जाता है, उसे राजस कहते हैं।

अपात्र में, केवल पिण्ड छुड़ाने के लिए अनादर पूर्वक जो दान दिया जाय वह तामस है।

इसी प्रकार जीवन के प्रत्येक अंश मे सात्विकता का प्रवेश होने से या तो आध्यात्मिक रोग उत्पन्न ही नही होते और यदि होते भी हैं तो थोड़े से प्रयत्न से दूर हो जाते हैं।

विश्वास का बल

विश्वास में बड़ा बल है। उस से इच्छा को दृढ़ता मिलती है जो शरीर और मन की निर्बलताओं पर हावी हो जाती है। चिकित्सक को चाहिये कि वह रोगी में आत्मविश्वास उत्पन्न करे।

यह मेरे अपने अनुभव की बात है। मैं बचपन से खासी का रोगी हूं। दो वर्ष की अवस्था मे निमोनिया, चार वर्ष की अवस्था मे डबल निमोनिया, सोलह वर्ष की आयु में और फिर कई वार ब्रांकोनिमोनिया आदि आक्रमणों ने मेरे फेफड़ों को जर्जरित कर दिया। मेरी अभी सोलह वर्ष की ही आयु थी, जब प्लूरसी के पश्चात् डाक्टरों ने फतवा दे दिया कि मुझे क्षय रोग है। उस के पश्चात् जितनी वार अधिक रोगी हुआ, डाक्टर लोग अपने फतवे को दुहराते रहे, परन्तु न जाने कैसे मुझे यह विश्वास था कि मुझे क्षय नहीं हो सकता क्यो कि मुझे अभी जीना है। मैं सदा चिकित्सको का विरोध करता रहा। यहां तक कि जब ५४ वर्ष की आयु मे मैं लगभग एक वर्ष तक ज्वर से पीड़ित रहा और डाक्टरो ने फिर अपने फतवे को दुहराया तो मैंने उन से हस कर कहा 'डाक्टर जी, आपका भ्रम है। मुझे क्षय-वय कुछ नही है। मुझे तो न्यून से न्यून २५ वर्षो तक और सेवा कार्य करना है।'

डाक्टर लोग आश्चर्यित हुए जब उन की आशका निर्मूल सिद्ध हुई। मैं इसे अपने विश्वास का फल ही समझता हूं कि उसी टूटे हुए छकड़े के साथ यथाशक्ति सेवा का कार्य कर रहा। हूं अब मेरी अवस्था ७० वर्ष की है।

विश्वास में बड़ा बल है। उस से संकल्प की दृढ़ता प्राप्त होती है। कहा है —

गिरीन्करोति मृत्पिण्डान्, सेतुलंघ्यांश्च सागरान्।
नभस्तरति बाहुभ्यां, संकल्पो हि महात्मनाम्॥

महान् आत्माओं का संकल्प पर्वतो को मिट्टी के ढेले के समान कर देता है, समुद्र पर पुल बांध देता है और आकाश को भुजाओं से तैर जाता है। यह सृष्टि परमात्मा के संकल्प की रचना है। सब बड़े कार्य विद्या या मनुष्यों के संकल्प के परिणाम होते हैं। कुशल चिकित्सक वह है जो रोगी के मन मे विश्वास उत्पन्न कर के, उस के नीरोग होने के संकल्प को बलवान् बना दे। छान्दोग्योपनिषद् मे कहा है —

यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तर भवतीति।

जो कार्य, ज्ञान, श्रद्धा और दृढ़ संकल्प द्वारा किया जाता है, वही अधिक बलवान् होता है। मनुष्य की सफलता का यही मूलमन्त्र है।

स्वाध्याय के लिए चुनी हुई पुस्तकें

संस्कृत ग्रन्थ

पुस्तक	लेखक	मूल्य
संस्कृत-प्रवेशिका, प्रथम भाग (पन्द्रहवां संस्करण) सचित्र		.८७
संस्कृत-प्रवेशिका, द्वितीय भाग (छटा संस्करण) सचित्र		.८७
साहित्य-सुधा-संग्रह, (तीन भाग)		१.२५, १.२५, १.२५
पाणिनीयाष्टकम् पूर्वार्ध, उत्तरार्ध		७.००, ७.००
सरल शब्दरूपावली		.६२
संस्कृत ट्रान्सलेशन ऐण्ड कम्पोजिशन		१.२५
अन्योक्ति शतकम्		.२५
आर्य सूक्ति सुधा		.७५
संस्कृत साहित्य पाठावली		.१६
जिन चरितम्		.२५
संक्षिप्त मनुस्मृति		.५०
साहित्य दर्पण		२.००
रघुवंश, संशोधित (तीन सर्ग)		.२५
नीतिशतक, संशोधित		.१६
काव्यलतिका		१.२५
बालनीति कथामाला		१.००
भारतवर्ष का इतिहास, ३ भाग	श्री रामदेव	२.००, २.५०, ४.५०
बृहत्तर भारत, सजिल्द, अजिल्द	श्री चन्द्रगुप्त	६.००, ७.००
ऋषि दयानन्द का पत्र-व्यवहार, दो भाग	स्वामी श्रद्धानन्द	.७२
अपने देश की कथा (छटा संस्करण)	श्री सत्यकेतु	१.३७
हैदराबाद आर्य सत्याग्रह के अनुभव	श्री क्षितीश	.५०
योगेश्वर कृष्ण (दूसरा संस्करण)	श्री चमूपति	४.००
सम्राट् रघु	श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति	१.२५
जीवन की झांकियां (तीन भाग)	"	.५०, .५० १.००
जवाहरलाल नेहरू	"	१.२५
महर्षि दयानन्द का जीवन-चरित्र	"	२.००
दिल्ली के वे स्मरणीय २० दिन	"	.५०

स्वाध्याय सम्बन्धी पुस्तकें

आहार (भोजन की पूर्ण जानकारी हेतु)	श्री रामरक्ष	५.००
आसव-अरिष्ट	श्री सत्यदेव	२.५०
लहसुन : प्याज (३रा परिवर्द्धित संस्करण)	श्री रामेश बेदी	२.५०
शहद (शहद के बारे में पूरी जानकारी)	"	३.००
तुलसी (दूसरा वरिर्वाद्धित संस्करण)	"	२.००
सोंठ (तीसरा वरिर्वाद्धित संस्करण)	"	१.५०
देहाती इलाज (तीसरा परिवर्द्धित संस्करण)	"	१.००
मिर्च (काली, सफेद, लाल) २ रा संस्करण	"	१.००
सांपों की दुनिया, सचित्र, सजिल्द	"	५.००
त्रिफला (तीसरा संवर्द्धित संस्करण)	"	३.२५
नीम : बकायन (अनेक रोगों में उपयोग)	"	१.७५
पेठा : कद्दू (गुण तथा विस्तृत उपयोग)	"	.५०
अशोक (अशोक वृक्ष के चिकित्सा में विस्तृत उपयोग)	"	१.००
बरगद (नया परिवर्द्धित संस्करण)	"	१.००
देहात की दवाएं (सरकार द्वारा पुरस्कृत) सचित्र	"	.७५
स्तूप निर्माण कला, सचित्र, सजिल्द	श्री नारायण राव	३.००
प्रमेह, श्वास, अर्शरोग	"	१.२५
जल-चिकित्सा	श्री देवराज	१.२५
सन्ध्या-सुमन	श्री नित्यानन्द	१.५०
स्वामी श्रद्धानन्द जी के उपदेश, तीन भाग	"	३.७५
आत्म-मीमांसा	श्री नन्दलाल	२.००
वैदिक पशुयज्ञ-मीमांसा	श्री विश्वनाथ	१.००
सन्ध्या-रहस्य	"	२.००